कर्दमको कृतार्थ करनेवाले भगवान् श्रीहरि

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद् वर्ष्म तद्वच्छुभे नेत्रे चेत्तपसोर्जिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ } गोरखपुर, सौर आषाढ २००९, जून १९५२ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ३०७

भगवान्‌की झाँकी

मनिजटित मंजु किरीट कुंडल कल कपोल सुहावने ।
मुखकंज पर अलकैं सचिक्कन स्याम सौरभसों सने ॥
वर तिलक भ्रुकुटी वंक दृग आयत मनोहर कंज-सो ।
नासा अधर अति सोहने हसि मधुर चितवनि अमृत-सो ॥
लस उर सुकौस्तुभ माल मुक्ता सुभग वनमाला वनी ।
केयूर कंकन चारि आयुध मुद्रिका अति सोहनी ॥
पट पीत तडित-विनिंद कर लिये केलि-पंकज सोहनो ।
कटि किंकिनी पदकंज नूपुर शब्द अति मनमोहनो ॥
पदकंज विनतासुअनके वर अंस पर राजत घनो ।
तेहि देखि कर्दम प्रेम भर हिय हरष अति गदगद तनो ॥

(संकलित—श्रीमद्भागवत ३ । २१ । ९–११ के आधारपर)

कल्याण

यह तो जानते ही हो—दुःख पापका परिणाम है और सुख पुण्यका। अतः जब तुम्हें संसारमें दुःख मिलता है, तुम्हारे भोग-सुखका नाश होता है, तब तुम्हारे पापका क्षय होता है, तुम एक भयानक कर्म-ऋणसे मुक्त होते हो; और जब तुम्हें संसारमें भोग-सुख प्राप्त होता है, तुम्हारे भौतिक दुःखका अभाव होता है, तब तुम्हारे पुण्यका क्षय होता है, तुम्हारे सत्कर्मकी पूँजी समाप्त होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि भोग-सुखकी प्राप्तिमें हानि है और सांसारिक दुःखकी प्राप्तिमें लाभ है। इसलिये जब भोग-सुख मिले, तब तो उसे इस प्रकार अनिच्छासे भोगो कि 'भोगे बिना छुटकारा नहीं, इसलिये बाध्य होकर भोगना पड़ता है, वस्तुतः है तो हानिकी चीज' और सांसारिक दुःख मिले तब उसे चावसे—उत्साहसे भोगो—यह समझकर कि इसमें बड़ा लाभ है।

याद रक्खो—तुम्हारे रोने-चिल्लानेसे प्रारब्धका दुःख-भोग मिट नहीं जायगा और बड़ी भारी चाह तथा चिन्ता करनेसे भोग-सुख मिल नहीं जायगा; पर यदि तुम दुःखमें सुख तथा लाभ-बुद्धि कर लोगे और सुखमें दुःख तथा हानि-बुद्धि कर लोगे, जो यथार्थ है, तो तुम्हें सांसारिक दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेग या क्लेश नहीं होगा और सुखोंकी स्पृहा या अभिलाषा नहीं होगी। अपने-आप आनेपर तुम दोनोंमें ही निर्विकार और प्रसन्न रहोगे।

याद रक्खो—भोग-सुखकी स्पृहा या इच्छा ही सारे दुःखोंका मूल है। इसीके कारण मनुष्य नाना प्रकारके दुष्कर्म करता है और इसीके कारण बार-बार निराश, उदास और कर्तव्यच्युत होकर आत्मविनाशके पथपर चलता है। यदि भोग-सुखकी हानियोंसे मनुष्य परिचित हो जाय और उनका स्मरण रक्खे तो वह भोग-सुखके लिये कभी ललचा नहीं सकता।

याद रक्खो—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि—'जितने भी ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग हैं, वे सब विषय-विमोहित लोगोंको सुखरूप दीखनेपर भी वास्तवमें निश्चित दुःख उत्पन्न करनेवाले ही हैं तथा अनित्य हैं। इसलिये कोई भी बुद्धि रखनेवाला मनुष्य इन भोग-सुखोंमें नहीं रमता।'

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५। २२)

याद रक्खो—सच्चा बुद्धिमान् तो वह है, जो इस रहस्यको समझ लेता है और सारे जगत्की उत्पत्तिका कारण और जगत्की सारी प्रवृत्तियोंका हेतु एकमात्र श्रीभगवान्को मानकर, भावपूर्ण हृदयसे भगवान्को भजता है।

याद रक्खो—भगवान्को भजनेवाला सच्चिदानन्दघन भगवान्को प्राप्त होता है और विषयोंका चिन्तन करनेवाला अनित्य और दुःखमय विषयोंको। भगवान्की प्राप्तिसे सारे दुःखोंका सदाके लिये अन्त होकर परम सुख-शान्तिकी नित्य अनुभूति होती है और विषयोंकी प्राप्तिसे विषयोंकी अपूर्णता, परिवर्तनशीलता, क्षणभङ्गुरता एवं भोग-पराधीनताको लेकर नित्य नये-नये दुःखोंकी आग बढ़ती रहती है, जो जन्म-जन्मान्तरतक भीषण रूपसे जलाती रहती है।

याद रक्खो—मनुष्यका शरीर दुःखोंसे सर्वथा छुटकारा दिलानेके लिये भगवान्ने कृपापूर्वक दिया है, इसे यदि नये-नये भयानक दुःखोंकी प्राप्ति करानेवाली विषयासक्ति, विषय-सेवा और भगवान्की विमुखतामें ही बिता दिया तो इससे बड़ी मूर्खता एवं हानि और क्या होगी? क्योंकि ऐसा करनेपर भगवत्कृपाकी अवहेलना होती है और मानव-जीवनके दुर्लभ सुअवसरका दुरुपयोग होता है।

'शिव'
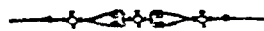
सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कई सज्जन कहते हैं कि मुक्ति संन्यास-आश्रममें ही होती है, गृहस्थमें नहीं; किंतु उनका यह कहना कहाँतक उचित है—समझमें नहीं आता; क्योंकि श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंको देखनेसे मालूम होता है कि सभी वर्ण और आश्रमोंमें मुक्ति होती है। मुक्तिमें वर्ण, आश्रम और जातिकी प्रधानता नहीं; सद्गुण, सदाचार, ईश्वरभक्ति और ज्ञानकी ही प्रधानता है; और यह बात शास्त्र एवं युक्तिसङ्गत है।

यदि कहें कि मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—इस सिद्धान्तके अनुसार निष्कामकर्म और ईश्वरभक्ति आदि साधनोंसे मुक्ति नहीं होती तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि जिस परमात्माके ज्ञानसे मुक्ति बतलायी है, वह ज्ञान निष्कामकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने-आप ही हो जाता है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४ । ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके सिवा, गीतामें जगह-जगह निष्काम कर्मसे मुक्ति बतलायी है (जैसे—२ । ५१, ३ । १९, ५ । ११-१२ आदि-आदि)।

जब निष्कामकर्मसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है, तब ईश्वरकी भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(१० । १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा श्रीभगवान्‌ने नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

ईश्वरकी भक्तिसे जब स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि आदितककी परम गति बतलायी है, तब फिर यह कहना बन ही कैसे सकता है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती। ईश्वरकी भक्तिसे जातिसे नीच मनुष्योंतकके कल्याणकी बात श्रीमद्भागवतमें भी आती है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

शास्त्रोंमें सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें भक्ति, ज्ञान और निष्कामभाव आदि सभी साधनोंसे मुक्ति बतलायी है और इसके अनेकों उदाहरण भी वेद-पुराण और इतिहासमें मिलते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्में बतलाया है कि उद्दालक मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति ज्ञानका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया। जबालाके पुत्र सत्यकामको गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी एवं सत्यकामके शिष्य उपकोशल-ने भी ब्रह्मचर्याश्रममें ही गुरुकी सेवासे ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार राजर्षि अश्वपति और राजा जनक स्वयं तो मुक्त थे ही, उनके पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान लेने जाते और मुक्ति प्राप्त किया करते थे। राजा अश्वपतिके पास जाकर प्राचीनशाल आदि ऋषियोंने ज्ञान प्राप्त किया और वे मुक्त हो गये।

याज्ञवल्क्य ऋषिसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने ज्ञान प्राप्त किया। वचक्नुकी पुत्री गार्गी स्वयं ही जीवन्मुक्त थीं, जिन्होंने राजा जनककी सभामें ब्रह्मवेत्ताओंके प्रसङ्गमें याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये थे। इनकी कथा बृहदारण्यको-पनिषद्में देखनी चाहिये।

यमराजसे उपदेश प्राप्त करके नचिकेताके जीवन्मुक्त होनेकी बात कठोपनिषद्में आती ही है।

माता-पिताकी सेवासे मूक चाण्डाल, पातिव्रत्यके पालनसे शुभा नामकी स्त्री, न्याययुक्त सत्यतापूर्वक क्रय-विक्रयसे तुलाधार वैश्य, उत्तम गुणोंसे सज्जन अद्रोहक एवं भगवद्भक्तिसे वैष्णव परमात्माको प्राप्त हो गये। इनका आख्यान पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बड़े ही विस्तारसे आता है, वह देखने योग्य है।

राजा चोल तथा ब्राह्मण विष्णुदास भी ईश्वरकी भक्तिसे परमपदको प्राप्त हो गये, यह कथा पद्मपुराणके पातालखण्डमें आती है। राजा अम्बरीष और भीष्मपितामहको भगवद्भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमें आता है तथा भक्त अर्जुन और द्रौपदीको परमपद-प्राप्तिका वर्णन महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें है। मार्कण्डेयपुराणमें भगवतीकी उपासनासे समाधि वैश्यकी परमपद-प्राप्तिकी कथा है। सूत, सञ्जय और दासीपुत्र विदुर, जिनकी कथा महाभारतमें आती है, भगवान्‌की भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। शबरी भीलनीने भी भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्प्राप्ति कर ली, जिसकी कथा वाल्मीकीय रामायणमें मिलती है।

इस प्रकार सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें अनेक स्त्री-पुरुषोंको कर्म, उपासना तथा योग आदि साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति होनेका उल्लेख शास्त्रोंमें जगह-जगह पाया जाता है, कहाँतक दिखलावें।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें अधिकांश गृहस्थाश्रमी हैं। अन्य सभी आश्रमियोंका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमसे ही होता है, इसलिये पुराणोंमें कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रमको अन्य आश्रमोंसे श्रेष्ठ भी बतलाया है। इसलिये जो नर-नारी गृहस्थाश्रममें रहकर अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे पालन करते हुए ईश्वरकी अनन्यभक्ति करते हैं, उनकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है? श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण कथा है, जिनमें अपने वर्णधर्मका निष्काम-भावसे आचरण करना, सम्पूर्ण धर्मोंके वास्तविक सारतत्त्वको समझकर सबको आदर देना एवं साथ ही भगवान् सदाशिवकी अनन्य भक्ति करना—ये तीनों

विशेषताएँ विद्यमान थीं । उनका विस्तृत आख्यान स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें देखने योग्य है । यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उसका संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

नन्दभद्र नामक एक वैश्य थे । वे साक्षात् धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके विशेषज्ञ थे । धर्मोंके विषयमें जो कुछ कहा गया है, उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं थी, जो नन्दभद्रको ज्ञात न हो । वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न रहते थे । उन्होंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकार-धर्मका ही आश्रय ले रक्खा था । नन्दभद्रने इस विशाल धर्म-समुद्रका सब ओरसे मन्थन करके सारतत्त्व ग्रहण किया था ।

वे जीविकाके लिये न्याययुक्त वाणिज्यको श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे । उन्होंने थोड़ेसे काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रक्खा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये तथा शरीरनिर्वाहके लिये वे कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे । उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमें मदिरा सर्वथा वर्जित थी । उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेदभाव न करके समताका व्यवहार किया जाता था । झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था । वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे । बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखाधड़ीके वे सब लोगोंको समानभावसे बेचते थे; यही उनका श्रेष्ठ व्रत था ।

कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र सर्वथा ऐसा नहीं मानते थे । वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-निवेदन आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे । कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्र उनसे भी सर्वथा सहमत नहीं थे । उनका कहना था कि जो विषयोंका बाहरसे त्याग करके मनसे उनका चिन्तन करता है, वह पुरुष गृहस्थ और संन्याससे अथवा इहलोक और परलोक—दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है । संन्यासका जो सारभूत उत्तम तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे ।

वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे । किसीके साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध । पत्थर और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाव रखते थे । वे स्वभावसे ही धीर थे । सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय रहते थे । अपनी आकृति ऐसी बनायी रखते थे, मानो अन्धे और बहरे हों; अर्थात् वे दूसरोंके दोषोंको न देखते और न सुनते । कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकाङ्क्षा नहीं थी । अतः प्रत्येक कर्म उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधनाका अङ्ग बन जाता था । इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें कोई स्वार्थ नहीं रखते थे । नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके इस मोक्षप्राप्तिके साररूप धर्मको ग्रहण किया था ।

कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्रने उसके भी सारभागको ही अपनाया था । खेतीकी आयमेंसे तीसवें भागका त्याग करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमें लगा देना चाहिये । बूढ़े पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये । जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है । नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था ।

प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये । सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है । यह

उनका मत था ।*

कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उसे प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको चिरस्थायी समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं । वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है । अतः सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना स्वरूप मानकर उनके प्रति अपने ही जैसा बर्ताव करना चाहिये ।†

* गीतामें भी भगवान्ने ऐसा ही कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापीलोग अपने शरीरपोषणके लिये ही पकाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं ।'

† श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(६ । २९)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ।'

'अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

'अपनी सादृश्यतासे सम देखने'का तात्पर्य है—जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर, गुदाके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे उनके सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना चाहिये ।

जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे मतवाला नहीं होता । इसलिये नन्दभद्रने ऐश्वर्यका भी सार निकाल लिया था । वे अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवासे विमुख नहीं होते थे । इस आचरणसे रहनेवाले साधुशिरोमणि नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी स्पृहा रखते थे ।

इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था । उसका नाम तो था सत्यव्रत, किंतु वह बड़ा भारी नास्तिक और दुराचारी था । उसकी इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो इन्हें धर्मसे गिरा दूँ । नन्दभद्रके वृद्धावस्थामें एक पुत्र हुआ, किंतु वह चल बसा । इसे प्रारब्धका फल मानकर उन महामति वैश्यने शोक नहीं किया । तदनन्तर, नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो पतिव्रता अरुन्धतीकी भाँति साध्वी स्त्रियोंके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित तथा गृहस्थ-धर्मकी साक्षात् मूर्ति थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गयी । सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई । 'बड़े कष्टकी बात हुई,' ऐसा कहता हुआ वह शीघ्र ही नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर उनसे बोला—'नन्दभद्र ! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको भी ऐसा फल मिला तो इससे मेरे मनमें यही आता है कि यह धर्म-कर्म व्यर्थ ही है । मैं वाणीके अठारह और बुद्धिके नौ दोषोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य बोलूँगा ।*

* सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं, उसे वाक्य कहते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ कहा जाता है, वह 'प्रयोजन' नामक वाक्य कहा गया है । यह वाक्यका प्रथम लक्षण है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमें 'यही वह है' ऐसा कहकर जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह 'निर्णय' नामक वाक्य है । 'यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये'—इस प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन किया

शास्त्रोंके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है । इसलिये मैं 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ । मैं तुमसे सच्ची बात कहूँगा ।

'जबसे तुम पत्थर (शिवलिङ्ग) पूजनेमें लग गये' तबसे तुम्हें कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता । तुम्हारे एक ही तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया । पतिव्रता पत्नी थी, सो भी संसारसे चल बसी । भैया ! देवता कहाँ हैं ? सब मिथ्या है । यदि होते तो दिखायी न देते ? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणोंकी झूठी कल्पना है । संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें झूठी हैं । यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमें विचरण करते हैं, स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते हैं, स्वभावसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है । इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता (ईश्वर) नहीं है ।

'धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं, किंतु मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है । ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं, इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है । मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं । इसलिये नन्दभद्र !

जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'कर्मयोग' कहते हैं । जहाँ दोषों और गुणोंका यथावत् विभाग करके दोनोंके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय, उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये और जहाँ वाक्यके विभिन्न अर्थोंमें अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है, उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं । यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई ।

वाणीके अठारह दोष इस प्रकार समझने चाहिये—अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुख-मुख, अनृत एवं असंस्कृत, त्रिवर्गविरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रमाभिहृत, सशेष, अहेतुक तथा निष्कारण । जिस वाणीके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है । जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह 'अभिन्नार्थ' है । जो सदा व्यवहारमें न आता हो ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है । जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द 'अधिक' है । अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको 'अश्लक्ष्ण' कहते हैं । जिससे अर्थमें संदेह हो, वह 'संदिग्ध' है । 'पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण' भी एक दोष ही है । वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर जानेवाली वाणीको 'पराङ्मुख-मुख' कहा गया है । 'अनृत'का अर्थ है असत्य । व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको 'असंस्कृत' कहते हैं । धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' कही गयी है । अर्थबोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना 'न्यून' दोष है । जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह 'कष्टशब्द' है । अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ 'अतिशब्द' कहा है । जहाँ क्रमका उल्लङ्घन करके शब्द-प्रयोग हुआ हो, वह 'व्युत्क्रमाभिहृत' कहलाता है । वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ 'सदोष' नामक दोष है । कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो, वहाँ 'अहेतुक' दोष है । जब किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो, अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ 'निष्कारण' दोष है ।

काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, कुटिलता, दयाहीनता, सम्मान हीनता, धर्महीनता—ये नौ बुद्धिके दोष हैं । जब वक्ता, श्रोता और वाक्य तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामें समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत् रूपसे प्रकट होता है । बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता । इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमें सन्देह उत्पन्न होने लगता है, अतः वह वाक्य भी सदोष ही है । इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथार्थ वक्ता है, दूसरा नहीं ।

तुम मिथ्याधर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो। पूर्वापर बस, यही सत्य है।'

सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्ति-सङ्गत तथा असमञ्जस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर थे। उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी! आपने जो यह कहा कि धर्मात्मा मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है। हम तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते हैं। संसारबन्धनजनित क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख पापी मनुष्योंके यहाँ भी देखे जाते हैं। इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है।

'दूसरी बात जो आप यह कहते हैं कि इस संसार-का कारण कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है। क्या प्रजा बिना राजाके रह सकती है? इसके सिवा आप जो यह कहते हैं कि तुम झूठे ही पत्थरके लिङ्गकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें मुझे इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिङ्गकी महिमाको नहीं जानते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे अन्धा सूर्यके स्वरूपको नहीं जानता। भगवान् श्रीराम-ने युद्धमें रावणको मारकर समुद्रके किनारे श्रीरामेश्वर लिङ्गकी स्थापना की है, क्या वह झूठा ही है?

'आप जो यह कहते हैं कि देवता नहीं हैं और यदि हैं तो कहीं भी दिखायी क्यों नहीं देते? आपके इस प्रश्नसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर भीख माँगते हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना करें? यदि आपके मतमें सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते हैं तो बताइये, कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता? इसलिये जो भी निर्माणकार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है। और आपने जो यह कहा है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, यह बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है और न सुनी ही है। तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे रहित जो पशु-पक्षी आदि प्राणी हैं तथा उनके जो कष्ट हैं, वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य हैं तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नहीं? मैं तो समझता हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे आपने नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है। आपने पहले ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने ज्ञानका परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमें आपके इन वचनोंकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है। आपने प्रतिज्ञा तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह डाला कुछ और ही। इसमें आपका कोई दोष नहीं है, सब दोष मेरा ही है, जो मैं आपकी बात सुनता हूँ। नास्तिक, सर्प और विष—इनका तो यह स्वभाव ही है कि ये दूसरेको मोहित करते हैं। प्रतिदिन साधु-पुरुषोंका सङ्ग करना धर्मका कारण है। इसलिये विद्वान्, वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा शान्तिपरायण संत-महात्माओंके साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक आसनपर बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक आचार नष्ट होते हैं। नीचोंके सङ्गसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट होती है, मध्यम श्रेणीके लोगोंके साथ उठने-बैठनेसे बुद्धि मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। इस धर्मका स्मरण करके मैं पुनः आपसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, क्योंकि आप सदा ब्राह्मण आदिकोंकी ही निन्दा करते हैं। वेद प्रमाण हैं, स्मृतियाँ प्रमाण हैं तथा धर्म और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण हैं; परंतु जिसकी दृष्टिमें ये तीनों ही प्रमाण नहीं हैं, उसकी बातको कौन प्रमाण मानेगा?

इस प्रकार कह महात्मा नन्दभद्र वहाँसे उठकर चले गये । वे सदा भगवान् शिवकी उपासनामें लगे रहते और इस प्रकार भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वे परम पदको प्राप्त हो गये ।

इस भक्तिसहित निष्काम कर्मके विषयमें शास्त्रका विधिवाक्य भी है । श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८ । ४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है । अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ।'

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर-की अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

अतएव सभी मनुष्योंको परमात्माकी शरण होकर अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार जगज्जनार्दनकी सेवा करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५५)

'इसीलिये नाथ !'—पितामह बोलते ही चले गये—'जो भक्तजन हैं, वे तुम्हारे स्वरूपकी, ऐश्वर्यकी महिमापर विचार करने नहीं जाते । इसके लिये वे तनिक भी परिश्रम नहीं करते । तीर्थाटन आदि करनेकी भी उनकी रुचि नहीं होती । वे तो तुम्हें ही अपने जीवनका सार-सर्वस्व बना चुकनेवाले संतोंके द्वारका आश्रय ग्रहण करते हैं । अव्यग्रचित्तसे वहाँ निवास करते हुए संतोंके द्वारा कही हुई तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाकी कथाओंको ही, उनके द्वारा गान किये हुए भक्त-चरित्रोंको ही श्रवण करते रहते हैं । कथा-श्रवणके समय आदरकी भावनासे उनकी अञ्जलि बँध जाती है; प्रेमावेशसे 'हरे ! नारायण ! जगत्पते !' की पावन ध्वनि उनके मुखसे निकल पड़ती है । कथाका अनुमोदन करनेके लिये उनका अन्तर्मन पूर्ण रहता है कथाकी निष्ठासे । इस प्रकार काय-मनोवाक्यसे वे तुम्हारी चर्चाको ही जीवनका सार-संबल बना लेते हैं । उनके आदरकी वस्तु एकमात्र तुम्हारी कथा ही रहती है । उनके प्राणधारणका अवलम्बन केवल तुम्हारी चर्चा ही बच रहती है । और बिना ही परिश्रम उन्हें कथा-श्रवणका यह परम सौभाग्य प्राप्त रहता है संतोंके द्वारपर । वे संत अनृतके भयसे, इन्द्रियोंकी चञ्चलता-बहिर्मुखताके डरसे, अथवा तुम्हें ही प्राप्त हो जानेके कारण उनके लिये सदा-सर्वथा समस्त प्रयोजनोंका अभाव हो जानेसे अन्य प्रसङ्गोंमें मौन रहनेपर भी तुम्हारे नाम, रूप, गुण, लीलाका कीर्तन किये बिना रह नहीं सकते । इसीलिये तुम्हारी चर्चा अतिशय सुलभ रहती है, उन संतोंके निकट निवास करनेवालोंको ! जीवनका प्रत्येक क्षण बीतता है तुम्हारी कथाके सम्बन्धको लेकर ही । तथा इसीका परिणाम यह होता है कि नाथ ! हे अजित ! जो तीनों लोकमें किसी भी उपायसे किसीके द्वारा भी वशमें किये नहीं जा सकते, वह भी तुम उनके द्वारा—तुम्हारे वार्ताश्रवण-परायणजनोंके द्वारा, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन न करनेपर भी, प्रायः वशमें कर लिये जाते हो । भक्तोंसे आचरित

इस जीवनचर्याको जो अपना लेते हैं, परमार्थके पथमें इस भक्त-पद-चिह्नका ही अनुसरण करते हुए अग्रसर होते हैं—वे चाहे कोई भी हों—उनके लिये ऐसी बात होकर ही रहती है प्रभो !'

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३)

ग्यान विषै प्रयास परिहरै, तुम्हरी कथा विषै मन धरै।
जैसैं सुंदर संत तुम्हारे, कथा-अमृतके बरषनहारे॥
तिन पै सुनै, श्रवन रस भरै, मन-बच-कर्म बंदन पुनि करै।
बैठे ठौर कथा-रस पीवै, जे इहि भाँति जगत मैं जीवै॥
अहो अजित! तिन करि तुम जीते, ग्यानी डोलत भटकत रीते।

× × ×

नैन रूप श्रुति कथा सुहानी।
मुख तव नाम रटत सुखदानी॥
इमि विधि जे जीवत जग प्रानी।
ते कृतकृत्य भए मैं जानी॥
तीनि लोक महँ अजित अनंता।
तिन जीतेउ तुम कहँ भगवंता॥
तव गुन कथा अमृत अति पावनि।
गलित सूरि मुख तें मनभावनि॥
निसि दिन पान करत मन लाए।
जन्म लाहु तिन्ह ही एक पाए॥

आज ब्रह्माको स्पष्ट दीख रहा है कि उपर्युक्त श्रवणादिरूप भक्तिका आश्रय लिये बिना ज्ञान चाहनेवालेको ज्ञानकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। तथा वे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चरण-प्रान्तमें अपने भाव-पुष्प समर्पित करते हुए अपनी इस अनुभूतिको भी निवेदन कर दे रहे हैं—'हे प्रभो! सबके लिये नितान्त आवश्यक है तुम्हारी भक्ति। इसके अभावमें न अभ्युदय सम्भव है, न अपवर्गकी सिद्धि; क्योंकि सब प्रकारके कल्याणका उदय, विस्तार इस भक्तिरूप मूल स्रोतसे ही तो होता है; समस्त मङ्गलोंका उद्गम जो यह ठहरी, किंतु लोग भ्रान्त हो जाते हैं नाथ! इसका आश्रय ग्रहण करना तो दूर, इसकी अत्यन्त अवहेलना कर बैठते हैं। उन्हें तुम्हारे मङ्गलमय नामोंका पीयूष सतत आस्वादनके योग्य नहीं प्रतीत होता, तुम्हारे अनिन्द्यसुन्दर मधुरातिमधुर रूपकी चर्चा उन्हें आकर्षित नहीं करती। तुम्हारे अनन्त कल्याणमय, मधुस्रावी गुणगणोंका वर्णन-श्रवण उन्हें प्रिय नहीं होता, तुम्हारी दिव्य लीलाएँ, तुम्हारा चिदानन्दमय विहार उन्हें अपने चिन्तनयोग्य वस्तु नहीं दीखती! वे अनादर कर देते हैं तुम्हारी इन रसमयी वार्ताओंका, सरस भावनाओंका। और इसके बदले ज्ञानकी संथा लेकर तुम्हारी महिमाका पर्यवसान देखनेके लिये अथवा आत्मबोधके लिये ही वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं; अतिशय परिश्रम करते हैं वे। सर्वमङ्गलनिकेतन तुम्हारी भक्ति उन्हें सहजमें ही ज्ञानकी प्राप्ति करा देती, इसके अवान्तर फलरूपमें उन्हें स्वतः आत्मबोध हो जाता; पर इस ओर वे ताकते ही नहीं। वे तो भक्तिकी उपेक्षा कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही अथक श्रम करते रहते हैं, किंतु इतना करनेपर भी प्रभो! ज्ञानकी आलोकमाला उनके मानस-तलको, उनकी बुद्धिको उद्भासित नहीं करती, अपितु परिणाममें हाथ लगता है—केवल क्लेश-ही-क्लेश—साधन-श्रममात्र; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं—साधनजन्य यत्किञ्चित् सिद्धियाँ भी नहीं। मिलें कैसे? समस्त सिद्धियोंकी मूल तो तुम्हारे श्रीचरणोंकी अर्चना है। तुम्हारे सम्बन्धसे शून्य कोई भी साधन किसी भी शुभ फलका सृजन कर जो नहीं सकते। अतः उनके लिये भी बच रहता है केवल असफल आयासमात्र—ठीक उसी प्रकार जैसे अल्प परिमाणमें सामने रक्खे हुए धान्यको परित्यागकर तन्दुल निकाले हुए धान्यतुषकी राशि—थोथी भूसीके ढेरको कूटनेपर अन्नकणोंकी उपलब्धि नहीं होती, निरर्थक श्रममात्र ही होता है।

श्रेयकी निर्झरिणी तुम्हारी भक्तिकी जो अवहेलना कर देते हैं, वे शुष्क ज्ञान लाभके लिये भले ही कुछ भी कर लें, उनके लिये अवश्यम्भावी परिणाम यही होता है सर्वेश्वर !'

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४)

तुम्हरी भगति अमीरस-सरवर, मोच्छादिक जाके बस निर्झर।
तिहि तजि जे केवल बोध कौं, करत कलेस चित्त सोध कौं॥
तिन कहुँ छिन ही छिन श्रम बढ़ै, और कछू न तनक कर चढ़ै।
जैसैं कन विहीन लै धान, धमकि धमकि कूटत अग्यान॥
फल तहँ विरथ यहै दुख भरै, खोटक हाथनि फोटक परै।

× × ×

त्यागि भक्ति तव मूढ़ नर, ज्ञान हेतु दिन राति।
करै जतन पचि पचि मरै, लहै न कबहूँ सांति॥
भक्ति सरोवर अति गंभीरा।
झरना अमित झरै तेहि तीरा॥
ऐसी सरस भक्ति सुखदानी।
तेहि तजि अपर ठाम रुचि मानी॥
तासु सकल श्रम विफल गुसाईं।
श्रुति पुराण संतत इमि गाईं॥
जिमि कोउ अल्प धान्य को त्यागी।
धान अभास घनो अनुरागी॥
कंडन करै ताहि रुचि मानी।
लहै न अन्न सहै दुख खानी॥
तिमि तव भक्ति त्यागि नर मूढ़ा।
सहैं कोटि दुख मोह अरूढ़ा॥

'भक्तिकी यह महिमा कथनमात्रके लिये हो, ऐसी बात नहीं है नाथ !' वेदगर्भ प्रमाण देने लगते हैं—'अपितु, अतीतके अगणित संतोंका जीवन इस सत्यको प्रत्यक्ष कर दे रहा है। हे भूमन् ! अपरिच्छिन्न प्रभो ! तुमसे छिपा ही क्या है, तुम सम्पूर्णतया सब कुछ जानते हो ! मेरे द्वारा निर्मित इस जगत्के प्रवाहमें एक नहीं, बहुतसे योगिगण हो चुके हैं, जिन्होंने योगके, ज्ञानके साधनोंको अपनाया था, साधनकी चरमोत्कर्ष दशामें वे अवस्थित भी हो चुके थे; फिर भी ज्ञानकी ज्योति नहीं जग सकी, हृत्तल आलोकित नहीं हो सका ज्ञानसूर्यकी रश्मियोंसे। और तब वे लौटे इस पथसे तथा भक्तिमार्ग—राजमार्गका अवलम्बन लिया उन्होंने। अब उनके जीवनकी धारा तुम्हारी ओर बह चली; समस्त इन्द्रियोंका व्यापार होने लगा तुम्हारे उद्देश्यसे ही, उनकी सब चेष्टाएँ समर्पित होने लगीं तुम्हें ही। इस कर्म-समर्पणने शीघ्र ही मनका मैल धो दिया; तुम्हारी कथा-श्रवणके प्रति आदर जाग उठा तथा संत-समागमका सौभाग्य लाभकर वे सतत तुम्हारी कथा-सुधामें ही निमग्न रहने लगे। कथामृत-पानके अनिवार्य परिणामस्वरूप भक्तिका उन्मेष हुआ ही। फिर तो स्वरूप-ज्ञान होनेमें विलम्ब ही क्या था; वह तो स्वतः हो गया। इस प्रकार अनायास अतिशय सुगमतासे उन्होंने तुम्हारे परमपदकी प्राप्ति कर ली। हे अच्युत ! सर्वथा उचित ही है ऐसा होना; तुम्हारी भक्तिका आश्रय कर लेनेके अनन्तर कोई भी व्यक्ति अभीष्ट-सिद्धिसे च्युत हो जाय, यह सम्भव जो नहीं।'

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५)

हो प्रभु ! पाछे बहुतक भोगी, तजि तजि भोग भये भल जोगी।
दिढ़ अष्टांग जोग अनुसरै, ग्यान हेतु बहुतै तप करै॥
अति श्रम जानि तहाँ तें फिरै, तुम कहुँ कर्म समर्पन करै।
तिन करि शुद्ध भयौ मन मर्म, तब कीने प्रभु तुम्हरे कर्म॥
कथा श्रवन करि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति।
ता करि आत्मतत्त्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ॥

× × ×

हे भूमन पूरब जे जोगी।
तजि गृहादि सुख भये बियोगी॥

करि बहु जतन ज्ञान हित भारी।
मिलेउ ज्ञान नहिं भये दुखारी॥
पीछे निज ईहा सब जेती।
तुमहि समर्पहि मन बच तेती॥
सुनि तव कथा भक्ति हिय आई।
जान्यो आतम रूप बनाई॥
ते नर सहज प्रयास बिनु, मुक्ति लहैं सुखकंद।
परे न भवनिधि माहिं पुनि, मिटे सकल जग द्वंद॥

इतना कह लेनेके अनन्तर स्रष्टाके नेत्र, मन, प्राण पुन: व्रजराजकुमारके नवजलधर-श्यामल श्रीअङ्गोंकी सौन्दर्यराशिमें, चिदानन्दमय श्रीविग्रहके अनन्त अपरिसीम पारावारविहीन महिमामें ही डूबने-उतराने लगते हैं। प्राणोंके कण-कणसे झङ्कृत हो उठता है—'सर्वथा अज्ञेय है यह महिमा, व्रजराजकुमारका यह स्वरूप!' इसी समय सहसा पद्मयोनिके मनमें, बुद्धिमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके निर्विशेष स्वरूपका स्फुरण हो जाता है—मानो ओर-छोरविहीन रससिन्धुमें बहते हुएको एक सुदूर देशमें ज्योतिर्मय, चिन्मय तटकी रेखा-सी दीख जाय! पर यह स्वरूप भी ज्ञेय थोड़े है? इसमें भी 'अथ' 'इति' जो नहीं। इसे भी कैसे जाना जाय। फिर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:'—आत्माका दर्शन करे, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' मनके द्वारा बारंबार आत्माका अनुसन्धान करे—इन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है?—इस प्रकार वेदगर्भके मनमें मानो शङ्का जागी और इसका स्वयं समाधान करते हुए अपने इस निर्णयको भी व्रजेन्द्रनन्दनके पादपद्मोंमें निवेदन करनेयोग्य वस्तु समझकर वे कह उठते हैं—'प्रभो! अज्ञेय हैं तुम्हारे दोनों स्वरूप ही—सविशेष (सगुण), निर्विशेष (निर्गुण), दोनों ही नहीं जाने जा सकते नाथ! तथापि निर्विशेषकी महिमाका प्रकाश इन्द्रियोंका प्रत्याहार किये हुए मनीषियोंके सम्यक् शुद्ध चित्तमें हो सकता है स्वामिन्! किंतु तुम्हारी यह अभिव्यक्ति चिदाभाससे होनेवाले प्राकृत वस्तुके ज्ञानके समान नहीं है, नहीं हो सकती। यह तो तुम अपनी स्वप्रकाशताशक्तिसे ही आत्माकार हुए चित्तमें प्रतिभासित होने लगते हो प्रभो! जब इन्द्रियोंका प्रत्याहार हो जाता है, विषयोंसे वे हटा ली जाती हैं, विषयोंसे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, तब चित्तकी विषयाकारता भी मिट जाती है। यह स्थिति ही—चित्तका विषयाकार न रहना ही—आत्माकारता है। इस प्रकार सर्वविध विकार एवं विषयसम्बन्धसे शून्य, आत्माकार हुए चित्तमें ही तुम्हारे स्वप्रकाश निर्विशेष स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है, हो सकती है नाथ! आत्माकार चित्तवृत्तिमें तुम्हारा यह निर्विशेष स्वरूप प्रकाशित हो जाता है, इस कारण यह ज्ञेय है और चिदाभाससे यह प्रकाशित होनेका ही नहीं, इसीलिये यह अज्ञेय है भूमन्!'*

---

* वस्तुका ज्ञान होनेके सम्बन्धमें शास्त्रीय सिद्धान्त यह है—जगत्में सर्वत्र स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे जो चैतन्य-सत्ताकी अभिव्यक्ति होती है, इसीको शास्त्रीय भाषामें 'चिदाभास' कहते हैं। इस चिदाभास एवं इन्द्रियसे जुड़े, विषयाकार हुए चित्तके द्वारा ही जीवोंको यह ज्ञान होता है कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है इत्यादि। सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर यह ज्ञान ऐसे होता है—जिस समय नेत्र आदि इन्द्रियोंके साथ घड़ा आदि विषयोंका सम्बन्ध होता है, उस समय अन्तःकरण—चित्त, नेत्र आदि इन्द्रियोंकी राहसे निकलकर, जहाँ घड़ा आदि विषय अवस्थित रहते हैं, वहाँ चला जाता है; जाकर घट आदि विषयोंके आकारमें परिणत हो जाता है, ठीक उन-उन विषयोंका आकार धारण कर लेता है। इस परिणामको ही 'वृत्ति' नामसे कहते हैं; 'चित्तकी विषयाकारता' भी इसीका नाम है। इसी 'वृत्ति'में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है, उसे शास्त्रकार 'फल' नाम दे देते हैं। अब जिस समय चित्त घटाकार वृत्तिके रूपमें बन जाता है, उसी समय घटके आवरक अज्ञानका नाश हो जाता है अर्थात् उस घटरूप विषयके सम्बन्धमें जो अज्ञान रहता है, वह दूर हो जाता है; तथा वहाँ स्थित जो चिदाभास है, जिसे 'फल' भी कहते हैं, उसके द्वारा घड़ा प्रकाशित कर दिया जाता है। दार्शनिक दृष्टिसे इतनी क्रिया हो जानेपर ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह घड़ा है'। इसी प्रकार इन्द्रियोंके समस्त विषयोंके सम्बन्धमें

तथापि भूमन् ! महिमागुणस्य ते
विबोद्‌धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ६)

लछिमी जदपि नित्य उर रहै,
सो पुनि तनक कबहुँ नहिं लहै ।
जाके रूप न रेख, न क्रिया,
तिहि लालच अवलंबै हिया ॥

तदपि केई तजि तजि सब कृत्ति,
निर्मल करत चित्त की वृत्ति ।
सहजहि शून्य समाधि लगाइ,
लेत हैं तामैं तुम कौं पाइ ॥

× × ×

अगुन रूप जो अहै तुम्हारा । तासु ज्ञान कोउ लहै उदारा ॥
सगुन रूप तव गुन बहु भारे । लहै न कोउ इमि वेद उचारे ॥
गुनातीत तव रूप अनूपा । इंद्रीजित जानै सुखरूपा ॥

'किंतु इसी प्रकार तुम्हारे सगुण स्वरूपकी महिमा भी जान ली जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है अनन्त !'—स्रष्टा पुनः व्रजराजकुमारके सविशेष स्वरूपके वैभवका ही सम्पुट देते हुए-से बोल पड़ते हैं—अनन्त अप्राकृत कल्याणगुणनिलय तुम सदा सबके लिये अज्ञेय ही बने रहते हो । तुम्हारे दिव्य स्वरूपभूत गुणोंकी थाह आजतक किसने पायी है प्रभो ! विश्वके कल्याणके लिये ही तो तुम्हारा यह अवतरण हुआ है नाथ ! इससे पूर्व भी न जाने कितने भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये किन-किन रूपोंमें अवतरित होकर अपने अनन्त गुणोंमेंसे कौन-कौनसे गुणोंका प्रकाश तुमने किया है स्वामिन् ! जगत्‌के अनादि-प्रवाहमें अनन्त प्राणियोंकी अनन्त भावनाओंसे उपासित होकर, उनके प्रेमसे आकर्षित हुए तुम जब-जब यहाँ अवतीर्ण हुए हो, उस समय तुम्हारे कारुण्य, भक्तवात्सल्य आदि अनन्त गुणोंका कैसी, कहाँ किस रूपमें अभिव्यक्ति हुई है—इसे कौन जानता है विभो ! तुम्हारे गुणगणोंकी गणना किसके द्वारा सम्भव है नाथ !

समझना चाहिये । संक्षेपमें कहनेपर यह कि घड़ा, कपड़ा, मकान आदि किसी भी जागतिक वस्तुका ज्ञान प्राप्त होते समय जीवकी चित्तवृत्तिके द्वारा तो केवलमात्र उस विषयका अज्ञान दूर होता है; किंतु वस्तुको प्रकाशित कर देनेके लिये चिदाभास अपेक्षित है ही । जगत्‌की जितनी जड वस्तुएँ हैं, उनका स्फुरण चिदाभासकी सहायतासे ही होता है; किंतु सच्चिदानन्द वस्तु इस चिदाभाससे प्रकाशित नहीं हो सकती । इसीलिये भगवान्‌के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमें यह बात है कि वहाँ आवरक अज्ञानका नाश होनेके लिये वृत्तिव्याप्तिमात्र—केवल चित्तकी आत्माकारता, ब्रह्माकारता ही अपेक्षित है; चिदाभास नहीं । हमें उन्मुक्त आकाशमें प्रकाशित सूर्यके दर्शन हो जायँ, इसके लिये आँखें खोल लेनेकी तो नितान्त आवश्यकता है, किंतु सूर्यको देखनेके लिये दीपकके प्रकाशका कोई उपयोग नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्मका स्फुरण होनेके लिये चित्तकी आत्माकारता तो नितान्त आवश्यक है, किंतु चिदाभासका वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है । नेत्र खोल देनेपर जैसे निर्विशेष तेजोमण्डलरूपमें सूर्यके दर्शन हो जाते हैं, वैसे ही आत्माकार हुए चित्तमें भगवान्‌के स्वप्रकाश निर्विशेष सच्चिदानन्द-स्वरूपके ज्ञानका उन्मेष हो जाता है—

घटादिजडवस्तुज्ञानविषये अन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटाद्याकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते । वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः फलमित्युच्यते । तत्र वृत्त्या घटाद्यावरकमज्ञानं नाश्यते; चिदाभासेन फलाख्येन घटः प्रकाश्यते । ततोऽयं घट इत्यादि ज्ञानं जायते । अतो घटादिस्फुरणार्थं फलव्याप्ति-रपेक्ष्यते । ब्रह्मविषये तु आवरकाज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिमात्र-मपेक्ष्यते । ब्रह्माकारवृत्तौ जातायां ब्रह्मस्फुरणार्थं तु रवि-दर्शनार्थे दीपापेक्षेव चिदाभासापेक्षा नास्ति; ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशत्वात्; एतदर्थं संग्रहश्लोकौ च—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासस्तत्र युज्यते ॥
(अन्वितार्थप्रकाशिका)

महाशक्तिसम्पन्न शेष एवं सनकादि योगेश्वरगण दीर्घकालके परिश्रमसे पृथ्वीके धूलिकणोंकी, आकाशके हिमकणोंकी एवं सूर्य-नक्षत्रादिके किरण-परमाणुओंकी भी गणना कर लेनेमें जो समर्थ हो चुके हैं, उनमें भी ऐसी किनकी सामर्थ्य है जो तुम्हारे अनन्त कल्याणमय गुणोंको गिन डालें भगवन् !'

> गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
> हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
> कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
> र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥
> (श्रीमद्भा० १० । १४ । ७)

> पै यह सगुन सरूप तुम्हारौ । ह्याँ मन खोयौ जात हमारौ ॥
> ये अद्भुत अवतार जु लेत । विस्वहि प्रतिपालन के हेत ॥
> नाम, रूप, गुन, कर्म अनंत । गनत गनत कोउ लहै न अंत ॥
> धरनी के परमान जितेक । हिमकन उडुगन गगन तितेक॥
> कालहि पाइ निपुन जन कोइ । तिनहिं गनै, अस समरथ होइ ॥
> पै परि सगुन रूप गुन जिते । काहू पै कहि परत न तिते ॥

× × ×

> यह सख्यात सगुन वपु देवा । नहिं कोउ जानि सकै तव सेवा॥
> गुन अचिन्त्य महिमा सुखसागर। जग पालन कारन भजनागर॥
> तव गुन गनि न सकै सत सेषा। जिनके बहुमुख अहै असेषा ॥
> भूरज गगन ऋक्षगन जेते। बरषा बूँद परै कन केते ॥
> हिम कन व्यूह जहाँ लगि आही। गनै निपुन कोउ अति चित चाही
> विपुल काज करि गनै कोउ व्योम किरन परमानु ।
> तद्यपि तव गुन गनन कोउ नहिं समर्थ जग जानु ॥

यह कहते-कहते ही स्रष्टाके मनमें भक्तिका स्रोत उमड़ चलता है । व्रजराजकुमारके कल्याणमय गुणोंकी स्मृति आत्मसमर्पणके भावोंको उद्बुद्ध कर देती है और वे कहने लगते हैं—'अतएव हे करुणावरुणालय ! आवश्यकता नहीं है तुम्हारे गुणगणोंकी गणना करनेकी । बस, किसी प्रकार तुम्हारी अनन्त कृपामयतापर विश्वास हो जाय; समयपर प्राप्त हुए सुख-सम्पत्तिके समुदायमें, दुःख-दारिद्र्यके झंझावातमें समानरूपसे सतत तुम्हारी कृपाकी निराविल धाराके ही दर्शन होने लगें; और कदाचित् यह न हो सके तो तुम्हारी अनुकम्पाकी प्रतीक्षा ही जाग्रत् हो जाय—'कब प्रभुकी कृपा मुझपर ढलक पड़ेगी' इस ओर ही दृष्टि केन्द्रित हो उठे; चातक जिस प्रकार निर्झरकी, सरिताकी, सागरकी, वारिधाराकी ओरसे मुँह मोड़कर एकान्त मनसे स्वाती-बूँदोंकी ही प्रतीक्षा करता है; तृष्णाकी ज्वालासे उस विहङ्गमके प्राण भले झुलस जायँ पर अपने अभिलषित मेघके अतिरिक्त किसी भी अन्य ओर वह ताकता ही नहीं—'सम्यगीक्षमाणश्चातकवृत्तिरित्यर्थः—'*; इस प्रकार सबकी आशा परित्यागकर तुम्हारी कृपाकणिकाको पा लेनेकी उत्कण्ठा प्राणोंमें निरन्तर जाग्रत् हो जाय; तथा जबतक तुम्हारी उस कृपाकी अनुभूति न हो, तबतक घोर तप आदिसे शरीर क्षीण करनेके बदले जन्मान्तरमें अपने ही अर्जित विविध कर्मफलोंको, प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखरूप भोगोंको विकृति-शून्य, अम्लानचित्तसे भोगते रहनेकी वृत्ति उदय हो जाय; साथ ही तुम्हारी स्फूर्ति होते रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, गद्गदवाणीसे, रोमाञ्चित हुए शरीरसे अपने-आपको तुम्हारे चरणसरोजोंमें समर्पित करते रहनेकी भावना अखण्डरूपसे बनी रहे—जीवन इस उपर्युक्त दिनचर्याके साँचेमें ही ढल जाय, जो कोई भी अपना ऐसा जीवन बना ले नाथ ! फिर तो वह तुम्हारे चरणसेवाधिकारको पा लेनेका अधिकारी बन ही जाता है प्रभो ! जीवित पुत्र पितृसम्पद्का अधिकारी हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है भगवन् ! वञ्चित तो वे होते हैं जो मृत पुत्र हैं, पतित पुत्र हैं अथवा पोष्य पुत्र हैं । तुम विश्वपिताकी संतान ही तो जगत्के ये असंख्य जीवगण हैं । इनमें तुम्हारे पाद-पङ्कजका भजन जिनके जीवनका अवलम्बन है, वे ही तो वास्तवमें जीवित हैं, उनका ही जीवनधारण सफल है, वे ही तुम्हारे चरणसरोरुहकी सेवारूप महासम्पद्के

* श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम् ।

अधिकारी हैं स्वामिन्! तथा जो तुमसे विमुख हैं, वे तो मृत ही हैं। भला—धौंकनीमें भी तो वायु आती-जाती है? तुम्हारे चरणोंसे पराङ्मुख रहनेवाले प्राणियोंका श्वास लेना ठीक ऐसा ही है देव! व्यर्थ है इनका जीवन—

'दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधाः।'*

अथवा ये पतित पुत्रकी श्रेणीमें हैं, तुम्हारी मायाके पोष्य पुत्र हैं प्रभो! ये पितृसम्पद्के अधिकारसे वञ्चित रहेंगे ही, रहते ही हैं। इन्हें कैसे मिले तुम्हारे भवज्वालाहारी पादारविन्दकी शीतल शन्तम छाया? और भगवन्! वे तुम्हारे अनुग्रहके अनुभवमें ही निमग्न रहनेवाले अथवा तुम्हारी अनुकम्पाकी ही प्रत्याशा लिये बैठे रहनेवाले, प्रारब्धको निर्विकारभावसे भोगनेवाले, तुमपर ही अपने कायमनोवाक्यसे न्यौछावर होकर जीवन धारण करनेवाले भक्तगण कैसे न कृतार्थ हों? विना परिश्रम बड़ी सुगमतासे ही वे तो हो ही जायँगे तुम्हारे नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंकी सेवा-प्राप्तिरूप महासम्पद्के दायभागी (अधिकारी)। उनके अनादि संसरणका अन्त हो जाय, भवबन्धनसे वे मुक्त हो जायँ—तुम्हारे चरणाश्रयका यह आनुषङ्गिक फल भी उन्हें मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है नाथ!

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ८)

तातैं तव भगतिहि अनुसरै। तुम्हरी कृपा मनायौ करै॥
कब मो पर नँदनंदन ढरिहैं। मधुर कटाच्छ चितै रस भरि हैं॥
निज प्रारब्ध कर्म-फल खाइ। अनासक्त, नैंक न ललचाइ॥
अरु अति तप-कलेस नहिं करै। श्रवन-कीर्तन-रस संचरै॥
इहि बिधिजियै सुभागहि पावै। मर्‍यो कहा कोउ झगरन आवै॥

× × × ×

* वेदस्तुति श्रीमद्भा० १० । ८७ । १७ ।

एहि ते हे जगदीस, भक्ति सुगम तव जीव कहुँ।
अपर न मोहि कछु दीस, भक्ति बिना हे नंदसुत॥
जो नर चतुर होइ जग कोई। तव कटाच्छ चाहै मन सोई॥
कब कटाच्छ करिहैं जदुनाथा। यह बंछै नित सुनि हरि गाथा॥
निज अर्जित जे कर्म पुराने। भल अरु मंद किये जस जाने॥
तस फल लहै करै सो भोगा। अनासक्त भोगै बिनु सोगा॥
अति कलेस तप आदिक त्यागी। तव पद संतत है अनुरागी॥
एहि विधि जे जीवत हैं प्रानी। भये मुक्तिभागी ते जानी॥

भक्तिरससे सिक्त हुए मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका यह एक स्वाभाविक लक्षण है—मानका सर्वथा अभाव होकर सच्चे दैन्यका सञ्चार हो जाय, अपनी हीनताका, दोषमयताका भान होने लगे। पितामह इसी स्थितिमें आ पहुँचे हैं।

इसके अतिरिक्त व्रजराजकुमारके अमृतस्यन्दी अधरोंपर एक स्मित नित्य विराजित रहता है, उनके दृगोंमें एक विचित्र स्पन्दनकी रेखा-सी सतत रहती है। कब क्या अर्थ रखते हैं ये—इसका अन्त आजतक किसीको मिला ही नहीं। हाँ, भावदर्पणमें इन स्मित एवं स्पन्दनकी छाया पड़ती है; तथा दर्पणके अनुरूप ही इस छायासे प्राणोंमें कुछ-न-कुछ अभिनव सङ्केत झर पड़ता है प्रत्येकके लिये प्रत्येक झाँकीमें ही। यही बात पद्मयोनिके लिये हुई। उन्होंने देखा श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चञ्चल नयनोंकी ओर, मन्दस्मितकी ओर तथा देखते ही उनके मनने इस बार एक नया अर्थ ले लिया उनसे। ये मानो कह रहे हों—'पितामह! मेरे भक्त तो तुम भी हो, अतः मेरे महासम्पद्के 'दायभाक्' भी तुम हो ही।' फिर तो वेदगर्भ व्याकुल हो उठे इस भावनासे। अपनी दीनता, तुच्छता, व्रजराजकुमारके असमोर्द्ध ऐश्वर्यकी स्फूर्ति, उनके प्रति किये हुए अपराधकी स्मृति, आत्मग्लानि—एक साथ अनेक भावोंका प्रवाह बह चला उनके अन्तस्तलमें। इसीलिये स्तवनकी धारा भी बदल गयी और वे कहने लगे—'ओह! प्रभो! भक्त मैं नहीं हूँ नाथ! होता तो मेरे द्वारा ऐसी धृष्टता नहीं

होती; मैं ऐसी मूढ़ता नहीं कर बैठता। स्वयं देख लो, अन्तर्यामिन्! मेरी दुर्जनोचित चेष्टाकी मूढ़ताकी सीमा नहीं रही है। तुम सर्वकारणकारण हो, इस नाते एवं साक्षात् सम्बन्धसे भी तुम मेरे पिता हो। तुम्हारे नाभिकमलसे ही तो मैं उत्पन्न हुआ हूँ देव! भला अपने पिताके प्रति—सो भी उस समय, जब वे सुखपूर्वक अपने सहचरोंके साथ भोजनपर बैठे हों—ऐसा अपराध करनेवालेसे बढ़कर दुर्जन और कौन होगा? और मेरी मूर्खताको तो कहना ही क्या है! देखो सही, तुम अनन्त अपरिच्छिन्नैश्वर्य हो; तुम्हारे स्वरूप, ऐश्वर्य, महिमा आदिका अन्त नहीं, तुम्हारा सब कुछ अपरिसीम है। परमात्मा हो तुम—नियामकरूपसे, सर्वत्र सबके बाहर-भीतर अवस्थित हो; आत्माओंके भी आत्मा हो तुम। इतना ही नहीं, तुम सर्वमायाधीश हो स्वामिन्! शेष, शङ्कर आदि भी तुम्हारी मायासे विमोहित हो जाते हैं। भला ऐसे महामहिम सर्वकारणकारण, सर्वनियन्ता, सर्वमायापति, तुमपर अपनी मायाका विस्तार करने चला था मैं, तुम्हें अपनी मायासे मुग्ध करके तुम्हारे वैभवका दर्शन करनेकी इच्छा की थी—नहीं-नहीं, देवसमाजके समक्ष अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करने गया था, 'अखिल ब्रह्माण्डनायक स्वयं भगवान्‌को भी पितामहने अपनी मायासे मुग्ध कर दिया'—इस सुयशका प्रसाद—इस रूपमें अपने ऐश्वर्यका दर्शन करने गया था। ओह! इस मूढ़ता—महामूढ़ताकी भी कोई सीमा है? तुम्हारी तुलनामें मेरा अस्तित्व ही क्या है नाथ! प्रज्वलित अग्निपुञ्जके सामने उसीसे उत्थित एक स्फुलिङ्गकणकी भी कहीं गणना होती है? इतने महान् हो तुम और इतना तुच्छातितुच्छ हूँ मैं! फिर भी मेरी ऐसी कुटिलता! क्या कहूँ प्रभो!'

> पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
> परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
> मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं
> ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ॥
> (श्रीमद्भा० १०। १४। ९)

देखहु नाथ दुर्जनता मेरी। महिमा चह्यौ चह्यौं प्रभु केरी॥
अगिनि तें बिस्फुलिंग ज्यों जगै। अगिनिहि बिभव दिखावन लगै॥
पटबिजना ज्यौं पंख डुलाइ। लयौ चहत रबि-मंडल छाइ॥
और सुनहु प्रभु उपमा आछी। गरुड़हि आँखि दिखावै माछी॥

× × ×

देखहु ईस दुष्टता मोरी।
छमा कहँ लगि बरनौं तोरी॥
तुम मायिकके ईस नियंता।
पुनि माया पति हरि भगवंता॥
मैं मति मंद अल्प निज माया।
सो प्रभुको मैं आनि देखाया॥
ता करि तव ऐश्वर्य मैं, देखन चह्यौं अनंत।
किमि देखौं मैं मूढ़ मति, तव महिमा कौ अंत॥

'परंतु जो महान् हैं, वे कहाँ देखते हैं छोटोंके अपराधोंकी ओर।'—पद्मयोनि व्रजेन्द्रनन्दनसे क्षमा-याचना करते हैं—'और फिर उनके द्वारसे क्षमादानके लिये अञ्चल फैलानेवाले कभी निराश लौटें, यह तो असम्भव है। अतएव, हे अच्युत! तुम भी मुझे क्षमा कर दो। अपनी अनन्त कृपामयताके स्वरूपसे तुम कदापि स्खलित नहीं हो सकते, इस शाश्वत सत्यकी आशासे मैं भी अञ्जलि बाँधे तुम्हारे श्रीचरणोंकी शरणमें आया हूँ भगवन्! तुच्छ-से-तुच्छ हूँ मैं और तुम महान्‌से भी सुमहान् हो। मेरे-जैसे नगण्यके द्वारा किये गये अपराधोंकी ओर हे महामहिम, तुम दृष्टिपात मत करो। सच तो यह है, स्वामिन्! मेरी-सी स्थितिमें अवस्थितके द्वारा अपराध न होंगे तो और होंगे ही क्या? देखो न, रजोगुणसे तो उत्पन्न हुआ हूँ मैं; रजोमयी सृष्टिके निर्माणमें ही सतत निरत रहता हूँ। प्राकृत रजमें तमका अंश न रहे, यह सम्भव नहीं। इसलिये तमकी छाया भी मुझपर रहेगी ही, तमोगुणजनित अज्ञता भी मेरी चिरसङ्गिनी बनी ही रहेगी। यही कारण है—मैं तुम्हारे स्वरूपको नहीं देख सका, नहीं जान पाया।

तथा इसीका परिणाम है कि अपने आपको तुमसे पृथक् ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, संसारका स्वामी मान बैठा था । ओह ! प्रभो ! क्या-दशा हो गयी थी मेरी !' मैं अजन्मा जगत्कर्ता हूँ—इस मायाकृत मदके घनीभूत अँधेरेसे—गाढ़ तमोमय आवरणसे मेरी आठों आँखें अंधी हो चुकी थीं ! कैसे मैं देख पाता तुम्हें ? ऐसी तमोमयी स्थितिमें मुझसे अपराध बने हैं नाथ ! बस, अब तो अपनी करुणाका चन्द्रोदय हो जाने दो; मेरे मदका अन्धकार सदाके लिये विलीन हो जाय उस परम दिव्य शुभ्र ज्योत्स्नामें, और मैं सतत देख सकूँ तुम्हें सर्वेश्वर !

'मयि त्वत्कारुण्यचन्द्रोदयेनैव मद्ध्वतमस्यपह्वते सति त्वं दृश्यो भविष्यसि नान्यथेति भावः'
—सारार्थदर्शिनी ।

साथ ही घटित अपराधोंके लिये क्षमा-दान दे दो । अपने अतिशय सदयहृदयसे मेरे लिये, हे नाथ ! तुम यह सोच लो—'यह भले सबका पितामह है, पर इसका स्वामी तो मैं ही हूँ । मेरे ही आश्रित रहनेसे यह सनाथ है । मुझसे उपेक्षित हो जानेपर इसका कोई अन्य रक्षक नहीं; इसके लिये कहीं तनिक भी स्थान नहीं । इसलिये यह मेरा भृत्य मेरी कृपाका पात्र है ही; इसपर मेरी अनुकम्पा होनी ही चाहिये ।' —यह विचार कर, हे कृपासिन्धो ! अपनी करुणा उच्छलित हो जाने दो मेरे लिये । वह चलूँ मैं तुम्हारी करुणाकी इन ऊर्मियोंमें । मेरे समस्त अपराध धुल जायँ इस निर्मलतम प्रवाहमें—

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । १०)

अब कहत कि मेरौ अपराधु । छमा करहु, हौं निपट असाधु ॥
रज गुन तैं उपज्यौ अग्यानी । तुम तैं भिन्न ईस अभिमानी ॥
मायामद उनमद ह्वै गयौ । सूझ न कछू, अंध तम छयौ ॥
यातैं अनुकंपा ही करौ । भृत्य जानि कछु जीय न धरौ ॥

× × ×

वैगुन छमहु मोर हे ताता ।
कृपासिंधु तुम सब जग त्राता ॥
रजगुन संभव मैं मति हीना ।
पृथक ईस-मानी अति दीना ॥
अति अजानतें किय अपराधा ।
दीनबंधु तव कृपा अगाधा ॥
अजारूप तम छाएउ लोचन ।
सूझ न कछु मोहि हे भवमोचन ॥
जद्यपि अपर ठाम यह नाथा ।
तदपि दास मम श्रुति यह गाथा ॥
एतनो जानि चूक सब मेरी ।
छमा करहु पद-किंकर हेरी ॥

चाह और स्थिति

बोल्यौ करै नूपुर श्रवनके निकट सदा पदतल लाल मन मेरो विहर्‌यो करै ।
बाजी करै वंसी धुनि पूरी रोम-रोम मुख मन मुसुकानि मंद मनहिं हँस्यौ करै ॥
'हरीचंद' चलनि मुरनि बतरानि चित छाई रहै छवि जुग दृगन भर्‌यौ करै ।
प्रानहू ते प्यारो रहै प्यारो तू, सदाई तेरो पीरो पट सदा हिय बीच फहर्‌यो करै ॥
पहिले ही जाय मिले गुनमें श्रवन फेरि, रूप-सुधा मधि कीनो नैनहू पयान है ।
हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई रसिकाई मिलि मति पय पान है ॥
मोहि मोहि मोहन-मई री मन मेरो भयो, 'हरीचंद' भेद ना परत कछु जान है ।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है ॥

—भारतेन्दु

कर्ममीमांसा

(लेखक—स्वामी चिदानन्दजी सरस्वती)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः ॥

मनुष्यको सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है । दूसरा कोई मुझे सुख-दुःख देता है, यह मान्यता नासमझीके कारण है । 'मैं करता हूँ', ऐसा जानना तो झूठा अभिमान है । नरसिंह मेहताके शब्दोंमें कहें तो 'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ'—यही अज्ञान है; क्योंकि मनुष्यमात्र अपने ही कर्मके बन्धनोंसे जकड़ा हुआ है । और उन कर्मोंके फलरूपमें ही उसे सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है । यह हुआ उपर्युक्त श्लोकका अर्थ । इस अर्थसे उसका रहस्य समझमें नहीं आता, अतएव इसे समझनेके लिये एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है ।

एक शिकारी हिरनको मारनेके लिये तीर छोड़ता है । दैववश वह तीर हिरनको लगता है और वह मर जाता है । अब यदि उस हिरनको बोलना आता और वह कहता कि इस तीरने मुझे मार डाला यानी इस तीरने मुझको मृत्युका दुःख दिया, तो हम कहते कि 'भाई हिरन ! तुम्हारी बात सच्ची नहीं है । तीर तो जड है, वह तुमको कैसे मार सकता है ? तुमको मारनेवाला तो शिकारी है, जिसने तुम्हें मारनेके लिये तीर छोड़ा था ।' अब जरा सूक्ष्म-बुद्धिसे विचार कीजिये कि जैसे तीर शिकारीके हाथका साधनमात्र है, वैसे ही शिकारी भी उस महान् जादूगरके, जो विश्वनियन्ता कहलाता है, हाथका साधनमात्र है । हिरनकी मृत्यु तो उसके प्रारब्धके भोगकी समाप्तिके कारण हुई । उसकी मृत्युका उस क्षणमें निर्माण न होता और यदि उसका प्रारब्धभोग शेष होता तो वह तीर उसको न लगता; क्योंकि यह कहना बनता नहीं कि हर बार शिकारी जब तीर छोड़ता है, तब किसी प्राणीको लगता ही है और लगनेपर वह मर ही जाता है । इसलिये हिरनको तो उसके पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप ही मृत्यु प्राप्त हुई; परंतु शिकारी जो यह अहङ्कार करता है कि हिरनको मैंने मारा तो उसे हिरनकी हत्याका पाप अवश्य लगेगा ।

अर्जुनको भी ऐसा ही मोह कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें हुआ था और उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने उसको समझाया था कि इन सबको मारनेवाला तो मैं हूँ, तू तो केवल निमित्तरूप है । 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' का भाव यही है ।

जब कर्मके विषयमें भगवान् स्वयं ही कहते हैं—'गहना कर्मणो गतिः'—कर्मकी गति गहन है, तब कर्मके रहस्यको समझनेके लिये मनुष्यकी चेष्टा अनधिकार चेष्टा ही कही जा सकती है; परंतु जबतक देह है, तबतक किसीका भी सारा अभिनिवेश निवृत्त नहीं होता । और इससे प्रत्येक देहधारीको ऐसा लगा करता है कि अमुक बातको जो मैंने समझा है सो ठीक समझा है । अतएव इसे लोगोंके सामने उपस्थित करना चाहिये । कर्मके रहस्यको सम्पूर्णतया समझना और समझाना मनुष्यकी बुद्धिकी सीमाके बाहरकी बात है; परंतु यदि उसे ऐसा लगता है कि अमुक अंश मैंने ठीक-ठीक समझा है और वह उसको उपस्थित करता है तो इसमें कोई दोष भी नहीं है; क्योंकि कदाचित् वह अंश किसी मुमुक्षुके ठीक समझमें न आता हो तो इससे उसका समाधान हो जायगा और उसके लिये तो वह प्रयत्न सार्थक समझा जायगा ।

अब कर्मका रहस्य समझनेके लिये कर्मके दो विभाग करके देखने होंगे । एक तो अनैच्छिक अथवा प्रकृति-प्रेरित और दूसरा ऐच्छिक अथवा बुद्धिप्रेरित । अनैच्छिक कर्म शरीरके धर्मके अनुसार अपने-आप हुआ करते हैं और उनमें इच्छा और बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती । उदाहरणके लिये श्वासोच्छ्वासकी क्रिया है, जो तुम्हारी इच्छा हो या न हो, पर अपने-आप होती रहती है । इसी प्रकार सारी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ अपने-आप हुआ करती हैं और उनमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी जरूरत नहीं होती; क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जबतक धर्मी है,तबतक उसके धर्मकी बाधा नहीं हो सकती । यानी जबतक धर्मीकी आँख है, तबतक उसके रूप देखनेके धर्म या स्वभावका बाध नहीं हो सकता यानी उसमें रुकावट नहीं आ सकती । आँखें खुलती हैं तो रूप देखनेके लिये ही खुलती हैं । इस बातको बहुत

सरल रीतिसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें समझाया है। वे कहते हैं—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(५ । ८-९)

भाव यह है कि जो मनुष्य कर्मके रहस्यको ठीक समझ गया है, वह अपनी इन्द्रियोंके स्वभाववश होनेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता; क्योंकि वह जानता है कि जबतक चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, तबतक उनके दर्शन आदि व्यवहारोंको रोकनेका कोई उपाय नहीं है, शरीरनाश-के द्वारा ही इन्द्रियोंके व्यवहारोंका अवसान होता है। भगवान् इसीको बहुत विस्तारसे समझाते हैं। पश्यन् यानी देखनेकी क्रिया। जबतक आँख है, तबतक उसका रूप देखनेका स्वभाव मिटाया नहीं जा सकता। शृण्वन् यानी सुननेकी क्रिया। जबतक कान है, सुननेके धर्मका लोप नहीं हो सकता। स्पृशन् यानी स्पर्श करनेकी क्रिया। जबतक स्पर्श-इन्द्रिय वर्तमान है, तबतक स्पर्श-ज्ञान हुए बिना न रहेगा। एक आदमी दोपहरको नदीमें कमरतक पानीमें खड़ा रहे तो उसकी इच्छा हो या न हो, फिर भी कमरके नीचेके भागमें शीतलताका बोध और ऊपरके भागमें उष्णताका बोध हुए बिना न रहेगा। जिघ्रन् यानी सूँघने-की क्रिया। जबतक नाक है, तबतक सुगन्ध-दुर्गन्ध आदिका ज्ञान अनिवार्य है। अश्नन् यानी खानेकी क्रिया। जबतक जीवन है, तबतक चाहे भले ही औषध अपने मुँहमें डालो और उसका स्वाद जाननेकी तुम्हें इच्छा न हो, तथापि औषधका स्वाद आये बिना न रहेगा। फिर भोजन करनेपर उसका स्वाद आये बिना कैसे रह सकता है? यह हुई ज्ञानेन्द्रियोंकी बात। कर्मेन्द्रियोंकी बात भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिये।

अब जब कि भगवान् कहते हैं—

'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'

(गीता १८ । ११)

तब इसका अर्थ यही होता है कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं है। यदि हठसे त्याग करने जायँ तो शरीरका नाश हो जाय। इस बातको समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।'

(गीता ३ । ८)

यदि तुम अपनी इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारोंका त्याग करने जाओगे तो तुम्हारे शरीरका निर्वाह न हो सकेगा। यानी इन्द्रियोंके अपने-अपने नैसर्गिक व्यवहारोंके बिना शरीर नहीं टिक सकता।

जिसे केवल तर्क ही करना है और सदाचारकी ओर बढ़ना ही नहीं है, वह यह कहेगा कि 'जब इन्द्रियोंका नैसर्गिक व्यवहार नहीं रुक सकता, तब मनुष्य क्यों न यथेच्छाचरण करे और अनुचित व्यवहार करे? और इसके लिये उसे उत्तरदायी क्यों माना जाय?'—इसका उत्तर यह है कि अशुभ कर्म कभी इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रेरित व्यापार अनिच्छासे हुआ ही करते हैं, पर अशुभ प्रवृत्तिमें तो सुख पानेकी इच्छा ही कारण होती है। और इसीलिये उस अशुभ क्रियाके लिये कर्त्ता उत्तरदायी है ही। बल्कि अनैच्छिक कर्म जो अपने-आप हुआ करते हैं, उनमें भी भगवान् सावधान रहनेके लिये तो कहते ही हैं; क्योंकि प्रकृति तो सदा ही अधोगामिनी है ही, और मन तो सदा विषयोंसे सुख पानेके लिये तैयार ही रहता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता ३ । ३४)

'इन्द्रियोंका उनके विषयोंके साथ संयोग होनेपर राग-द्वेष उपस्थित हो जाते हैं। अतएव राग-द्वेषके फंदेमें न फँसो। यदि फँसे तो अवश्य ही लुट जाओगे।' इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि चक्षु-इन्द्रियके दर्शनका व्यवहार भले ही हो; परंतु वह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक नहीं होना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी यदि राग-द्वेष शामिल हो तो उस व्यवहारका संस्कार अन्तःकरणपर पड़े बिना न रहेगा। और वह संस्कार भावी बन्धनको उत्पन्न करनेवाला बन जाता है। सारांश यह कि आँखसे रूपको देखना तो आँखका धर्म है, पर आसक्तिसे या बुरी नीयतसे रूपको देखना पापकर्म ही माना जायगा और उसका फल भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी राग-द्वेषसे तो मुक्त ही रहना चाहिये।

यहाँतक अनैच्छिक कर्मकी बात हुई । अब इच्छा या बुद्धिके द्वारा प्रेरित कर्मोंकी ओर देखिये । गीतामें अधिकांश स्थलोंमें ऐसे कर्मोंकी ही चर्चा है । गीताके कर्म-योगका मूलसूत्र है, 'योगः कर्मसु कौशलम्' । यानी कर्ममें कुशलता होनेका नाम ही योग है । कर्ममें कुशलता अर्थात् कर्म ऐसी कुशलतासे करे कि कर्म करनेपर भी कर्मके बन्धन-में न पड़ना पड़े । उसी प्रकारसे जैसे जलके भीतर रहने-वाले कमलको जल स्पर्श नहीं कर पाता ।

कर्मकी मीमांसा करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस विषयमें विद्वानोंमें भी दो मत हैं । एक पक्ष कहता है कि 'कर्ममात्र दोष-युक्त हैं, अतएव जीवको बन्धन करानेवाले हैं । उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये' और दूसरा पक्ष कहता है कि 'यज्ञ, दान और तप-जैसे पवित्र कर्मोंका त्याग न करो । इस विषयमें मेरा क्या निश्चय है—यह मैं बतलाता हूँ, तुम ठीक-ठीक समझो ।'

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(गीता १८ । ५)

भगवान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-जैसे कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि उनका अवश्य आचरण करना चाहिये; क्योंकि ये पवित्र कर्म हैं और अन्तःकरण-को शुद्ध करके परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं । फिर ये कर्म किस प्रकार किये जायँ—इसे समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
(गीता १८ । ५)

इन पवित्र कर्मोंको भी 'मैं करता हूँ,' ऐसा अभिमान रक्खे बिना तथा इनके फलमें आसक्ति रक्खे बिना करे; क्योंकि ये शुभ और पवित्र कर्म भी यदि फलेच्छा और अहङ्कारपूर्वक किये जायँ तो बन्धनकारक बनते हैं । अन्तर इतना ही है कि इन कर्मोंसे सोनेकी बेड़ी पड़ती है, जहाँ दूसरे कर्मोंसे लोहेकी बेड़ी । दोनोंमें बन्धन तो समान ही होता है ।

गीता कहती है कि कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होता । कर्मसे बन्धन करानेवाला तो कर्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा—ये दो ही हैं । अतएव अभिमान और इच्छारहित जो भी कर्म होते हैं, वे बन्धनकारक नहीं होते । यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥
(गीता १८ । १७)

जिस मनुष्यमें यह अभिमान नहीं है कि मैं यह कर्म करता हूँ तथा यह इच्छा नहीं है कि इस कर्मका मुझे अमुक फल मिले, वह मनुष्य इस युद्ध-क्षेत्रमें खड़े हुए सभी योद्धाओंको मार डाले तो भी कर्मका बन्धन उसको नहीं होता । इससे स्पष्ट हो गया कि कर्म स्वयं बन्धन नहीं कराता, बल्कि बन्धनकारक होती है उसमें रहनेवाली फलेच्छा और कर्तापनका अभिमान ।

जबतक हम संसारमें हैं, तबतक कर्म तो करने ही पड़ेंगे । इससे छुटकारा नहीं है । पर वे कर्म बन्धनकारक कैसे न हों—इसका उपाय बतलाते हुए गीता कहती है कि (१) कर्तापनका अभिमान न रक्खो, (२) फलकी इच्छा न रखते हुए कर्म करो ।

फलकी इच्छा न रहनेपर कर्म करनेसे फल न मिलता हो सो बात नहीं है । इच्छारहित यानी निष्कामकर्मका फल तो अनन्त गुना होता है और साथ ही वह बन्धनकारक नहीं होता । बल्कि निष्कामकर्म ऐहिक फल देनेके अनन्तर अन्तःकरणकी शुद्धि करता है और इससे जीवन्मुक्तकी स्थिति प्राप्त होती है—यह कोई कम लाभ है ?

कर्तापनका अभिमान छोड़नेके लिये भगवान्ने गीतामें अनेक रास्ते बतलाये हैं । एक जगह वे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
(३ । २७)

यानी कर्म-सम्पादन तो होता है प्रकृतिके गुणोंसे; परंतु अहङ्कारवश मूढ़ बना हुआ जीवात्मा अपनेको कर्ता मान लेता है । अब प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होता है—यह समझना है । प्रकृतिके गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । इन तीन गुणों-का कार्य यह शरीर है; क्योंकि इन तीनों गुणोंसे पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए और पञ्च महाभूतोंसे ये शरीर बने । अतः समस्त कर्म सम्पादित होते हैं स्थूल शरीरसे और स्थूल शरीरको सत्ता देनेवाला है सूक्ष्म शरीर । आत्मा तो केवल द्रष्टा है । वह कुछ करता नहीं, फिर भी अज्ञानके कारण अपनेको

कर्ता मान लेता है और यह अज्ञानसे घिरा हुआ आत्मा जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है, यानी अपनेको कर्ता और भोक्ता समझकर जन्म-मरण धर्मवाला मानता है ।

कर्त्ता भोक्ता देह में यही जीवका रूप ।
जब आपे करता नहीं केवल शिवस्वरूप ॥

कर्ता, भोक्ता तो देह है, और आत्मा 'मैं देह हूँ' अज्ञानवश ऐसा मानकर जीवभावको प्राप्त होता है । जीवका स्वरूप इस अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है । पर यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझ जाय कि 'मैं तो कर्ता नहीं' तो वह शिवस्वरूप है ही । इस प्रकार आत्मा वृथा ही कर्तापनके अभिमानसे बन्धनमें पड़ता है । इसी कारण भगवान् कहते हैं कि आत्मा कर्ता नहीं है । यह निश्चय करके कर्तापनका अभिमान छोड़ दे ।

कर्मफलकी आशा छोड़नेके लिये तो भगवान्‌ने अनेक स्थलोंपर कहा है । एक जगह कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गीता २ । ५१)

भगवान् कहते हैं कि जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसे बुद्धिमान् और चतुर व्यक्ति कर्मसे उत्पन्न फलका त्याग करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर अनामय पदको यानी मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं । आशय इतना ही है कि यदि कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, तो उनसे बन्धन नहीं होता । केवल यही नहीं, बल्कि जन्म-मरणका बन्धन भी छूट जाता है और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है ।

कर्मफल-त्यागके विषयमें एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गीता ५ । १२)

यानी जो कर्मयोगी है, अर्थात् जिसने कर्मके यथार्थ रहस्यको जान लिया है, वह कर्मके फलका त्याग करके परम शान्तिको प्राप्त करता है, अर्थात् निर्वाणपदको पाता है । पर जो अयोगी है, यानी कर्मके रहस्यको न समझकर कर्ममें आसक्ति रखता है, वह फलकी इच्छा रखकर कर्म करता है । इससे कर्मके बन्धनमें जकड़ जाता है । यानी जो कर्मफलकी इच्छा नहीं रखता, वह जन्म-मरणके दुःखसे छूट जाता है और जो कर्मफलकी आशा लिये रहता है, उसका जन्म-मरण चालू रहता है ।

इस छोटे-से निबन्धमें आपने देखा कि अनैच्छिक कर्म भी यदि राग-द्वेषसे युक्त होते हैं तो बन्धनके कारण बनते हैं । अतएव अनैच्छिक कर्मोंके करते समय राग-द्वेषसे मुक्त रहना चाहिये और ऐच्छिक कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं रखना चाहिये । और फलकी आशाका भी सेवन नहीं करना चाहिये । ऐसा करनेसे किसी भी कर्मका बन्धन न होकर शाश्वत शान्ति मिलेगी, यानी मुक्तिकी प्राप्ति होगी ।

इस लेखके आरम्भमें जो श्लोक उद्धृत किया गया है, वैसे ही भावको बतलानेवाली कुछ पंक्तियाँ भक्तराज नरसिंह मेहताके पदोंसे उद्धृत कर इस लेखको समाप्त करेंगे ।

कवि कहते हैं—

हुँ करूँ हुँ करूँ एज अज्ञान छे ।
शकटनो भार जेम श्वान ताणे ॥

× × × ×

निपजे नर थी तो कोई न रहे दुःखी
शत्रु मारी सहु मित्र राखे ।

× × × ×

जेहना भाग्यमें जे समे जे लख्युँ
तेहने ते समे तेज पहोंचे ।

रसखानि

बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन नैनसों सानी
हाथ वही उन गात सरैं अरु पाइ वही जु वही अनुजानी ।
जान वही उन प्रानके संग औ मान वही जु करै मनमानी
त्यौं रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि, सो है रसखानी ॥

—रसखान

प्रतीकोपासना और शिवलिङ्ग-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

वर्तमानयुगका तथाकथित शिक्षित सम्प्रदाय प्रायः संसार-त्यागी, योगी-संन्यासी लोगोंको स्वार्थपर, आत्ममुक्तिकामी, समाजकल्याण-विमुख कहकर तिरस्कार करता है एवं देशके, व्यक्तिके और जातिके समष्टि-जीवनके लिये उनके अध्यात्म-साधनामय जीवनका कोई विशेष मूल्य नहीं समझता। भारतीय जाति-गठनके इतिहासके सम्बन्धमें बहुतोंको इसका ज्ञान नहीं है कि इन संसार-त्यागी अध्यात्मनिष्ठ योगी-संन्यासियोंने ही सम्पूर्ण भारतवर्षके संस्कृतिगत, आदर्शगत और प्राणगत ऐक्यसम्पादनमें सबसे अधिक सहायता की है। देश जब अनेकों परस्पर झगड़नेवाली जातियों और राष्ट्रोंमें विभक्त था, एक प्रदेशकी सामाजिक रीति-नीति, आचार-व्यवहारको जब दूसरे प्रदेशमें अनार्योचित कहकर घृणा की जाती थी, विभिन्न प्रदेशोंके उच्च वर्णादिमें भी जब मेल-जोल और भावका आदान-प्रदान कम ही था, उस अति प्राचीन युगसे आरम्भ करके समस्त भारतमें सांस्कृतिक मिलन-भूमिकी रचना की थी, जातीय एकताकी भित्तिका गठन किया था एवं भाव और आदर्शोंका मेल स्थापन किया था इन संसारविरागी, समाजत्यागी, योगी-संन्यासी और परिव्राजक लोगोंने ही। भारतके नगर, ग्राम, पहाड़, जंगल—सर्वत्र एवं भारतके बाहर भी अनेक प्रदेशोंमें प्रतिष्ठित पाषाणमय शिवलिङ्ग प्रायः योगी-संन्यासियोंकी ही कीर्ति है। यह शिवलिङ्ग अध्यात्मदृष्टिसे जैसे ब्रह्मका प्रतीक है, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे वैसे ही भारतके प्राणगत ऐक्यका प्रतीक है। भारतीय संन्यासी, गृही और ब्रह्मचारी, ज्ञानी, कर्मी और भक्त, उपनयनादि संस्कार-समन्वित द्विज और वैदिक संस्कारविवर्जित शूद्रादि, शिक्षित और अशिक्षित, पुरुष और नारी, ग्राम-नगरवासी और वन-पर्वतवासी, विभिन्न धर्मानुरागियोंके मिलनका प्रतीक है। इसके लिये उन संसारत्यागी, शिवानुरागी, निवृत्तिमार्गावलम्बी, योगी-संन्यासियोंका वर्तमान भारत ऋणी है।

शिवलिङ्गके आध्यात्मिक तात्पर्यके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी भ्रान्त धारणा प्रचलित है। अनेक पण्डितम्मन्य अज्ञ असाधक गवेषक लिङ्ग-शब्दकी और लिङ्ग-आकृतिकी निन्दनीय व्याख्या करके शिवलिङ्गको शिश्न या पुरुषके जननेन्द्रियका द्योतक समझते हैं। ऐतिहासिक गवेषणाद्वारा उन लोगोंने यह आविष्कार किया है कि प्राचीन अनेक असभ्य और अर्धसभ्य जातियोंके बीच शिश्नोपासना प्रचलित थी। उनका सिद्धान्त है कि शिवलिङ्गकी उपासना उन्हीं आदिम-असभ्योंकी असंस्कृत धर्मबुद्धिसे समुद्भूत हुई है। अंग्रेजीमें इसे Phallic Worship कहते हैं। भारतीय धर्मालोचनानिरत अनेक पाश्चात्त्य पण्डितोंने भी इस मतपर घोर आपत्ति उठायी है। भारतीय हिंदू-जातिकी आध्यात्मिक और नैतिक संस्कृतिके प्रति उन लोगोंकी इतनी श्रद्धा है कि शिवलिङ्ग यदि शिश्नेन्द्रियका ही द्योतक होता, तो यह अश्लील प्रतीक इस जातिमें ऐसी सार्वजनीनता कभी न प्राप्त कर सकता। अन्ततः समाजके उन्नत स्तरके लोग—संन्यासी और गृहस्थ साधकगण—उसे कभी न ग्रहण करते।

पूर्वोक्त मतके अश्लीलतादोषको प्रक्षालन करके बहुतोंने यह प्रतिपादन करनेका प्रयास किया है कि शिवलिङ्ग भगवान्‌की सृष्टिशक्ति और सृष्टि-प्रक्रियाका प्रतीक है। विश्व-जगत्‌में सर्वत्र ही स्त्री-पुरुषके शक्ति-योगसे ही सृष्टिका प्रसार देखा जाता है। केवल मानव-जगत्‌में ही नहीं, जीव-जगत्‌में—यहाँतक कि उद्भिद्-जगत्‌में भी यौन-मिलनके द्वारा ही सृष्टि-विधान होता है। गौरीपीठस्थित शिवलिङ्ग इस यौन-सृष्टिकी ओर ही मनुष्यकी दृष्टि आकर्षण करता है। भगवान्‌के सृष्टि-कौशलके निकट मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपरायण होनेकी शिक्षा देता है, पुरुष-प्रकृतिके मिलनको ही विश्वप्रपञ्चका मूल-तत्त्व निर्देश करता है। परम पुरुष और तदीया परमा प्रकृतिका नित्य आनन्दमिलन—विश्वप्रपञ्चकी सृष्टि-स्थितिका मूल रहस्य है, वही विश्वका जीवन है, उसीसे विश्वमें आनन्दधारा अव्याहत है। विश्वके इसी जीवनधाराके साथ मनुष्यकी व्यक्तिगत जीवनधाराको युक्त करना ही आध्यात्मिक साधना है। एक ही परम पुरुष विश्वके सभी जीवोंके अन्तरात्मा-रूपमें विराजमान है, एक ही परमा प्रकृति सबके देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिकी जननी है। देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिमें आत्माका जो रमण, जो आनन्दविहार, जो अभिन्नताबोध है, उसमें भी उसी परम पुरुष और परमा प्रकृतिके नित्य मिलनका

ही परिचय है। सर्वत्र परम पुरुष और परमा प्रकृतिके—शिव और शक्तिके—ब्रह्म और मायाके लीला-विलासका प्रत्यक्ष करना ही साधनाका उद्देश्य है। शिवलिङ्गकी पूजा मनुष्यको यही शिक्षा देना चाहती है—यही आदर्श भारतीय प्राणोंका आदर्श है—इसी आदर्शसे सर्वसाधारणको अनुप्राणित करनेके उद्देश्यसे ही सर्वत्र शिवलिङ्गके प्रस्तर-विग्रहकी प्रतिष्ठा हुई। सभी श्रेणियोंमें शिवलिङ्गकी पूजाका प्रचार हुआ।

दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे शिवलिङ्गकी यह व्याख्या अयौक्तिक नहीं है; किंतु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह मत सन्देहास्पद है। भारतीय साधनाके इतिहासमें मूलतः शिवको सृष्टिविधाताके रूपमें नहीं माना गया है। वैसा होनेसे वे प्रथमसे ही प्रवृत्तिमार्गके अनुसरणकारी कर्मकाण्डसेवी लोगोंके आराध्य होते और याग-यज्ञ उनका प्रधान स्थान होता। भारतीय साधकसमाजमें ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, विष्णु पालनकर्ता एवं शिव संहारकर्तारूपसे माने जाते हैं। एक अद्वितीय ब्रह्मकी ही त्रिविध सगुण भावमूर्तियाँ हैं। जिन लोगोंको विश्व-जगत्‌की सृष्टि और स्थिति ही प्रिय है—एकसे बहुतकी उत्पत्ति एवं बहुतके मध्य साम्यश्रृङ्खला-सामञ्जस्य-विधान जिन्हें आकाङ्क्षित है—वे ब्रह्मा और विष्णुकी ही आराधना करते हैं। याग-यज्ञादि समाज-कल्याणकर कर्मकाण्डीय अनुष्ठानादिमें ब्रह्मा और विष्णुको ही आवाहन करते हैं और प्रधान स्थान देते हैं। शिवका कार्य है संहार—वे बहुत्वको मिटाकर एकत्वकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके व्रती हैं—वे संसारके बहुत्वकी श्रृङ्खलासे जीवको मुक्ति देकर समाजके बन्धनसे साधकोंको बाहर खींचकर मूलकारणमें—ब्रह्मस्वरूपमें—प्रतिष्ठित करनेमें व्यस्त रहते हैं। इसी कारण जो लोग संसारकी वृद्धि नहीं चाहते, सङ्कोच चाहते हैं। सृष्टि नहीं चाहते, संहार चाहते हैं। कर्मकी बहुलता नहीं चाहते, सब कर्मों और कर्मफलोंसे मुक्ति चाहते हैं; वे ही निवृत्तिमार्गके साधकगण—संसारविरागी, योगी, संन्यासी, मुमुक्षुगण—प्रधानतः शिवकी आराधनाके पक्षपाती होते हैं। उनकी दृष्टिमें शिव ही सुन्दर और महान् हैं, उन्हींकी कृपासे मानव-जीवनकी कृतार्थता सम्पन्न होती है। जो ब्रह्माके भक्त हैं, जिन्होंने जीवनमें ब्रह्माका आदर्श वरण किया है, वे संसारमें प्रजावृद्धि करते हैं, नये-नये सृष्टि-कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, याग-यज्ञादिके अनुष्ठानमें प्रसन्न होते हैं, गार्हस्थ्यको प्रधान स्थान देते हैं। जो विष्णुभक्त हैं, विष्णुके आदर्शसे अनुप्राणित हैं, वे संसारके वैचित्र्यके मध्य शान्ति-श्रृङ्खला-सामञ्जस्य विधान करनेमें अपनी शक्तिका प्रयोग करते हैं; सब जीवोंपर प्रेम और सेवा उनके जीवनका व्रत होता है। मानव-समाजमें वैषम्य और विश्रृङ्खलाके स्रष्टा स्वार्थी और दाम्भिक राक्षसप्रकृति और असुरप्रकृतिके लोगोंका प्रभाव नष्ट करके प्रेम और अहिंसाका प्रभाव प्रतिष्ठित करनेके लिये सब प्रकारके कर्म-सम्पादनमें निरत रहते हैं। उनका गार्हस्थ्य भी सेवाके लिये होता है, कर्म भी सेवाके लिये होता है। जो लोग शिवभक्त होते हैं, शिवके आदर्शसे अनुप्राणित होते हैं, वे संसारके वैचित्र्यका अतिक्रमण करके परम साम्यमें प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं; वे सभी प्रकारके ऐश्वर्यको तुच्छ समझते हैं, मानव-समाजकी लौकिक श्रीवृद्धिके प्रति उदासीन होकर ज्ञान और वैराग्य-साधना करते हैं। स्वयं योगी-संन्यासी होकर, समाज-धर्मका उल्लङ्घन करके लोक-समाजमें वैराग्य और मोक्षका आदर्श प्रचार करते हैं। शिव हैं नित्य-वैरागी, नित्य-समाधिशील, नित्य-आत्मसमाहित और आत्मानन्दमें विभोर। संसारकी अपेक्षा उन्हें श्मशान प्रिय है, वे ज्ञान-वैराग्य और मुक्तिके आदर्शको लोक-समाजमें उपस्थापित करके मनुष्योंकी चित्तवृत्तिको संसारके बहुत्वसे ब्रह्मके एकत्वकी ओर आकर्षण करते हैं। वे नित्य काल-क्लेश-कर्म-विपाक-आशयके ऊर्ध्वमें विराजमान रहकर उसी ओर मनुष्यकी अनुरागवृद्धि करते हैं। वे हैं ज्ञानीश्वर, त्यागीश्वर और योगीश्वर—सभी ज्ञानियोंके गुरु, सभी त्यागियोंके गुरु और सभी योगियोंके गुरु। शिवजीके सम्बन्धमें मूलतः यही शिवानुरागी साधकों और आचार्यगणोंकी धारणा है।

जिनकी अध्यात्मदृष्टि और विचारशक्ति साधारण है, वे भी सहज ही सोच सकते हैं कि सृष्टिका व्यञ्जक स्त्री-पुंशक्तिका भेद, या यौन-मिलनका द्योतक, या प्रजावृद्धिका सूचक कोई भी लिङ्ग या चिह्न या विग्रह मूलतः शिवका प्रतीक नहीं हो सकता। शिव-सम्बन्धी धारणाके साथ उसका किसी प्रकार मेल ही नहीं खाता। शिवोपासनाके चरम लक्ष्यकी साधनाके मार्गमें वह किसी प्रकार भी अनुरूप अवलम्बनके रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकारका कोई प्रतीक प्रजापति ब्रह्माका लिङ्ग मानकर अवलम्बन किया जा सकता है; परंतु ज्ञानी गुरु, योगी गुरु, त्यागी गुरु, विश्ववैचित्र्यसंहारक, अद्वयतत्त्वप्रकाशक, मुक्तिपदप्रदर्शक शिवका लिङ्ग मानकर ग्रहण नहीं किया जा सकता और यदि विश्वजगत्‌के यौनसृष्टिविधानके प्रतीकरूपमें ही शिवलिङ्गकी परिकल्पना होती तो संसारत्यागी निवृत्तिमार्गावलम्बी अद्वयतत्त्वनिष्ठ

मुमुक्षुयोगी और संन्यासी-सम्प्रदाय इस लिङ्गको उपास्यके आसनपर प्रतिष्ठित न करता—तत्त्वानुसन्धानके आलम्बनरूपमें ग्रहण न करता । जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं, जो लोग यौनसंस्कारका लेशमात्र भी अपने अन्तरमें सहन नहीं कर सकते, जो लोग स्त्री-पुं-भेदके संस्कारको हृदयसे निकाल देनेका प्रयास करते रहते हैं, वे जननेन्द्रियके द्योतक किसी विग्रहको सम्मुख रखकर साधनमें प्रवृत्त हों, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती, तो भी इन सब सृष्टिविरागी यौन-संस्कारत्यागी एकतत्त्वाभ्यासी योगी, संन्यासी, ब्रह्मचारियोंने ही भारतमें सर्वत्र शिवोपासनाका प्रचार किया, दुर्गम गिरि-कन्दराओंमें, गभीर अरण्योंमें, निर्जन श्मशानोंमें शिवमूर्तिकी प्रतिष्ठा करके इन सभी लोकसमाजवर्जित स्थानोंको तीर्थक्षेत्रोंमें परिणत कर दिया । सृष्टिके देवताको नहीं, संहारके देवताको, मोक्षके देवताको ही उन्होंने भारतके आदर्शस्थानीयरूपमें चिरप्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न किया एवं शिवलिङ्ग इसी संहार-के देवता तथा मोक्षके देवताका ही प्रतीक है । संसारमें सम्पूर्ण बहुत्व ही मृत्युग्रस्त है; जीवनके भीतर अपनी स्वेच्छा-से मृत्युको वरण करके, मृत्युको ज्ञान और वैराग्यके द्वारा आत्मसात् करके अमृतत्व लाभ करना होगा, मृत्युञ्जय-पद-पर प्रतिष्ठित होना होगा । संहारका देवता शिव मृत्युञ्जय नामसे अभिहित हुआ । श्मशानमें, मृत्युके क्षेत्रमें मृत्युञ्जय-की प्रतिष्ठा हुई—इसीलिये मनुष्यकी चिताके ऊपर शिवलिङ्ग प्रतिष्ठा करनेकी शिक्षा दी गयी है । सुतरां मूलतः शिवलिङ्ग-को सृष्टिका प्रतीक मानकर सिद्धान्त करना नितान्त ही भ्रमजनित है ।

वस्तुतः शिवलिङ्गके लिङ्गशब्दके साथ एवं शिवलिङ्ग-की आकृतिके साथ मनुष्यके पुरुषत्वव्यञ्जक इन्द्रियविशेषका किंवा विश्वके सृष्टिप्रक्रियासूचक यौनमिलनका कोई मौलिक सम्पर्क ही नहीं है । जिसके द्वारा कोई तत्त्व, कोई वस्तु या व्यक्ति या व्यापार लिङ्गित होता है, लक्षित होता है, निर्दिष्ट होता है, परिचित होता है, वही उस तत्त्व, वस्तु, व्यक्ति या व्यापारका लिङ्ग कहा जाता है । एक ही लिङ्गी या लक्षितव्य विषयके नाना प्रकारके लिङ्ग होते हैं ।

अत्यन्त प्राचीनकालसे तत्त्वदर्शी ऋषिगण, मनीषी साधकगण, मुमुक्षु योगी और संन्यासीगण ज्योति, आलोक, अग्नि और सूर्यको चैतन्यका प्रतीक मानकर ग्रहण करते आये हैं। एकमेवाद्वितीयं चैतन्यस्वरूप ब्रह्मका ही स्वयंज्योति, परमज्योति, अखण्डज्योति इत्यादि रूपोंसे वर्णन हुआ है । हमलोग इन्द्रियजन्य ज्ञानके द्वारा ज्योतिके दो धर्मोंका प्रधानतः परिचय पाते हैं—एक प्रकाश और दूसरा विनाश । ज्योति अपनेको स्वयं प्रकाश करती है, सभी विषयोंको भी प्रकाश करती है एवं अन्धकारका विनाश करती है, विषयका आवरण नष्ट करती है और सभी अनित्य दाह्य पदार्थोंका ध्वंस करती है । देदीप्यमान सूर्य, प्रज्वलित अग्नि, समुज्ज्वल दीपशिखा सबका प्रकाश और विनाश करती हैं, किंतु सभी जड ज्योतियाँ प्रकाशके लिये चैतन्य ज्योतिके ऊपर निर्भर रहती हैं । चैतन्यकी दीप्तिके बिना किसी भी विषयका प्रकाश नहीं होता । चैतन्यके आलोकसे आलोकित होकर ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, अग्नि, दीपशिखा इत्यादि जड ज्योति-र्मय बड़े-छोटे सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं एवं उनके आलोकसे आलोकित सभी विषय प्रकाशित होते हैं । चक्षु-कर्णादि इन्द्रियशक्तियाँ भी चैतन्य-शक्तिके प्रकाशसे ही प्रकाशमान और क्रियाशील होते हैं । एकमात्र चैतन्य ही स्वयंप्रकाश स्वयंज्योति है; चैतन्यकी ज्योतिसे ही सम्पूर्ण जगत्‌का प्रकाश है । श्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

समस्त विश्वब्रह्माण्ड जब अनभिव्यक्त रहता है, स्थूल-सूक्ष्म-स्थावर-जङ्गम कुछ भी जब व्यक्तरूपसे प्रकाशित नहीं होता, ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य, कर्ता-कार्य—किसी प्रकारके भेद-मूलक सम्बन्धका जब विकास नहीं होता, जब दिन-रात्रिका भेद नहीं होता, आलोक-अन्धकारका भेद नहीं होता, यहाँ-तक कि प्रकाश-अप्रकाशका भी भेद नहीं होता, उस समय भी एक अद्वितीय चैतन्यमय पुरुष अपनी स्वरूपगत ज्योतिसे प्रकाशमान होकर अपने स्वरूपमें स्वयं विराजमान रहते हैं । इसी चैतन्यमय पुरुषकी योगी, संन्यासी, ऋषिगण 'शिव' नाम-से उपासना करते हैं । श्रुति कहती है—

'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः' 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' 'शान्तं शिवमद्वयम् ।'

इसी स्वप्रकाश सर्वप्रकाश ज्योतिर्मय शिवका योगिगण अपने अन्तरमें अनिर्वाणरूपसे दर्शन करते हैं एवं बहिर्जगत्-के सभी आलोकबहुल पदार्थोंमें उसीकी ज्योति-छटाका अवलोकन करते हैं । अतएव जागतिक ज्योतिको स्वप्रकाश

शिवज्योतिके प्रतीकरूपसे अवलम्बन करके वे साधनामें प्रवृत्त होते हैं एवं जीवनको सम्यक् प्रकारसे ज्ञानालोकमय करनेके लिये यथाविधि प्रयत्न करते हैं। 'शिवो ज्योतीरसोऽमृतम्'—शिव ही विश्वमें सर्वप्रकाशक ज्योतिस्वरूप हैं, शिव ही विश्वके सारभूत रसस्वरूप हैं, शिव ही जीवके चरम आकाङ्क्षणीय अमृतस्वरूप हैं। अनिर्वाण दीप ही शिवका लिङ्ग या प्रतीकरूपसे योगिजनग्राह्य है।

जो अपने स्वरूपभूत चैतन्य-ज्योतिसे नित्य दीप्तिमान् हैं, जिनको श्रुति—'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' कहकर वर्णन करती है, जो निरावरण ज्ञान-समाधिमें नित्य आत्मानन्द-विभोर रहते हैं, जो कालानवच्छिन्न ज्ञानिस्वरूपसे जीवके अज्ञानान्धकारका विनाश करते हैं, एवं वासना-कामनाके विक्षेपको निर्मूल करते हैं, जो ज्ञानयोग और संन्यासरूपी त्रिशूलके द्वारा स्थूल-सूक्ष्म-कारणदेहरूप त्रिविध पुरमें निवास करनेवाले जीवके मायिक अहंरूपी दुर्दान्त त्रिपुरासुरका वध करके जीवात्माको अपने शुद्ध-बुद्ध-चिदानन्दमय स्वरूपमें प्रतिष्ठित करते हैं, जो सर्वपाशविनिर्मुक्त, सर्वविधिनिषेधातीत, सर्वक्लेशकर्मविपाकाशयसे अपरामृष्ट महायोगी, महात्यागी, महाज्ञानीके नित्य आदर्श हैं—अनिर्वाण दीपशिखा या आलोकस्तम्भ ही उनका प्रकृष्ट प्रतीक या लिङ्ग है। यही लिङ्ग ही शिवलिङ्गरूपसे शिवभक्त योगी-संन्यासी मुमुक्षुजनोंके चिर उपास्य है—उपासनाका आलम्बन है। शिवलिङ्गको ज्योतिर्लिङ्ग भी कहा जाता है; क्योंकि ज्योतिरूप लिङ्ग ही शिवस्वरूपका सर्वोत्कृष्ट द्योतक है। दिन-रात प्रदीप जलाकर शिवका ध्यान और आराधना करनेकी रीति आज भी मुमुक्षु योगी साधकोंके बीच देखी जाती है।

विश्व-प्रकृतिके वक्षके ऊपर यह एकमात्र आलोकस्तम्भ देदीप्यमान है। यही एकमात्र ज्योति सम्पूर्ण विश्वप्रकृतिको उद्भासित करती है, इसीके आलोकसे सब कुछ आलोकित है, प्रकाशित है। विश्वका सारा वैचित्र्य इसी ज्योतिको केन्द्र करके ही नियत परिणामको प्राप्त होकर प्रकाशित होता है एवं इसी आलोकसे उद्भासित होते-होते सम्पूर्णरूपसे आलोकमय होकर उसीके अंदर अपना विलय करनेकी ओर अग्रसर होता है। यह ज्योतिःस्वरूप ही विश्वका प्राण, विश्वका आत्मा है। यह एक अद्वितीय सर्ववर्णातीत स्वप्रकाश ज्योति ही विश्वके बीच विचित्र वर्णोंमें आत्मप्रकाश करती है, प्रत्येक वर्णके बीच इस अखण्ड अवर्ण-ज्योतिका ही खण्ड सोपाधिक आत्मप्रकाश, आत्मपरिचय, आत्मविलास है। इसी हेतु विश्वप्रकृति इस स्वयं ज्योतिका योनिपीठ—आत्मविलास, आत्मरमण है; विचित्ररूपमें आत्मोपलब्धि और आत्मपरिचयका क्षेत्र है। योनिपीठस्थित शिवलिङ्ग इस मूलतत्त्वका ही स्मरण सब साधकोंको करा देता है। विश्वके अनन्त वैचित्र्यके बीच विचित्ररूपसे विलसित इस एकमात्र नित्यज्योतिकी ओर दृष्टिको केन्द्रीभूत कर सकनेसे ही मनुष्यके व्यष्टिगत और समष्टिगत जीवनकी सभी भेदजनित समस्याओंका समाधान हो जाता है, सब अज्ञानान्धकार तिरोहित हो जाता है, सभी अविद्याप्रसूत अहङ्कार-ममता, वासना-कामना, दुःख-तापका विनाश हो जाता है।

निवृत्तिमार्गके साधक पहले विश्वप्रकृतिके प्रति उदासीन होकर वैदिकधर्म, समाजधर्म, क्रियाकाण्डादिका परित्याग करके, लोक-समाजके बाहर वनमें, समाजमें, पर्वतपर शिवज्योतिके ध्यानमें प्रवृत्त होते हैं एवं जीवनके सभी विभागोंको चैतन्यालोकसे आलोकित करके शिवमय बना डालनेका प्रयास करते हैं। तदुपरान्त ज्ञानालोकित दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वप्रकृतिके मध्य सच्चिदानन्दका विचित्र विलास देखकर वे लोग साधारण नर-नारियोंके जीवनको तत्त्वज्ञानसे आलोकित करनेके उद्देश्यसे, समाजके सभी स्तरोंमें शिवको प्रतिष्ठित करनेके लिये, सबको अखण्ड ज्योतिकी उपासनामें दीक्षित करनेका व्रत लेते हैं। प्रवृत्ति-मार्गके अधिकारी नर-नारियोंके सम्मुख भी शिवज्योतिका आदर्श उपस्थापित करके प्रवृत्ति-धर्मको भी वे निवृत्ति-परायण करनेका प्रयत्न करते हैं। वेदवादियोंके धर्मानुष्ठानमें, समाज-विधानमें, अधिकारनिरूपणमें जो संकीर्णताएँ थीं, जितना भेदबुद्धिका प्रभाव था, शिवज्ञानका प्रकाश डालकर उन संकीर्णताओं और भेदबुद्धियोंको दूर करके वे लोग क्रमशः समाजके ऊपर नये प्रभावका विस्तार करने लगे। गृहस्थ तत्त्वपिपासुओंने शिवोपासक योगी और संन्यासियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके शिवको गृहदेवता, कुलदेवता, ग्रामदेवता, जातिदेवतारूपमें प्रतिष्ठित किया। शिवजी मानो गृहस्थ हो गये—कर्मके साथ ज्ञानका मिलन हुआ, भोगके ऊपर त्यागका प्रभुत्व स्थापित हुआ, गृहस्थोंकी कर्ममयी, भोगमयी, वैचित्र्यमुखी, बहुत्वप्रसविनी चेतना ज्ञानी गुरु, त्यागी गुरु, आत्मचैतन्यसमाहित, भेद-बुद्धिविनाशी शिवको पतिरूपसे वरण करके उनके अनुगत हुई। शिव और उमाका योग प्रतिष्ठित हुआ। वैचित्र्यजननी उमाकी प्रत्येक

संतान-संततिमें शिवका अद्वय एकत्व प्रतिफलित हुआ। शिवके योनिपीठके रूपमें विश्वप्रकृतिकी स्थापना हुई। विश्व-प्रकृतिके आधारसे ज्ञानालोकमय चैतन्यज्योति सभी दिग्-दिगन्तरको उद्भासित करके प्रकाशित होने लगी।

यही शिवलिङ्गका आध्यात्मिक रहस्य है। शिवलिङ्गकी स्थापना पहलेसे ही दीपशिखा या आलोकस्तम्भ या प्रदीप्त ज्योतिके रूपमें हुई है। इस ज्योतिको प्रतीकोपासनाके क्षेत्रमें सर्वत्र स्थायी रूप देनेके उद्देश्यसे ही उसे प्रस्तरीभूत अर्थात् पाषाणमयी बनाकर प्रतिष्ठित करनेकी सुन्दर परिकल्पना हुई। शिवलिङ्ग छोटा होनेसे दीपशिखाके आकारमें एवं अपेक्षाकृत बड़ा होनेसे आलोकस्तम्भके आकारमें प्रतिष्ठित करनेका ही विधान है। पत्थरको पत्थर न सोचकर ज्योतिर्मयरूपसे ही ध्यान करनेका आचार्योंने शिक्षा दी है। भारतवर्षमें सर्वत्र चिज्ज्योतिर्मयी अनिर्वाणदीपशिखा जलती है, सर्वत्र ज्ञानका आलोक बिखर रहा है, सर्वत्र सभी वैचित्र्य और परिणामोंके बीच एक, नित्य, स्थिर, स्वयंज्योति, स्वरूपानन्द शिव या ब्रह्मके दर्शन करनेकी कला सिखानेकी व्यवस्था हुई है। नर-नारियोंके जीवन-विकासके आरम्भसे प्रत्येक स्तरमें मन, प्राण, हृदय, बुद्धि, इन्द्रियको तत्त्वज्ञानसे आलोकित करनेके उद्देश्यसे, तत्त्वज्ञानालोकित मन-प्राण-हृदय-बुद्धि-इन्द्रिय लेकर सभी प्रकारके अधिकारानुरूप जागतिक कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी शिक्षा देनेके लिये सबको सभी अवस्थाओंमें शिवज्योतिकी उपासनामें प्रोत्साहित किया गया है, यह शिक्षा ही भारतीय संस्कृतिका प्राण है। शिवलिङ्ग आपातदृष्टिसे एक पाषाणदण्डमात्र होनेपर भी उसे ज्योतिर्लिङ्गरूपमें देखना चाहिये एवं वह एक अद्वितीय स्वयंज्योति परमात्माका ही द्योतक है। विश्वके सभी अंश परमात्माके ही आत्मविलास हैं, परमात्माकी ज्योतिसे ही सभी उद्भासित हैं। इसी तत्त्वके प्रतीकरूपमें ही शिवलिङ्ग भारतीय संस्कृतिके प्राणके प्रतीकरूपमें महणीय है।

हमारा आदर्श क्या है ?

(लेखक—श्रीनलिनीकान्तजी गुप्त)

आज हम अच्छी तरहसे देखेंगे, समझेंगे और पहचानेंगे कि हमारा लक्ष्य क्या है ? आज अपने जीवन-देवताकी बात हम फिर कहेंगे। हम कहाँ हैं ? क्या करने जा रहे हैं ? हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा उद्देश्य यह है कि हमारी जो भागवत-सत्ता है, उसे सर्वतोभावसे, पूर्णरूपसे हम अपनेमें उपलब्ध करेंगे, अपने जीवनमें प्रकट करेंगे; उसके बाद उसी ज्ञान और उसी उपलब्धिको जगत्‌में फैला देंगे, प्रतिष्ठित करेंगे। हमारा उद्देश्य है पृथ्वीपर स्वर्गको ले आना और उसे यहाँ अक्षुण्णभावसे कायम रखना। पृथ्वीपर स्वर्गराज्य लायेंगे, इसीलिये उस स्वर्गराज्यको सबसे पहले अपने भीतर लानेकी जरूरत है। अर्थात् हम समझेंगे स्वर्गराज्य क्या है, उसकी साधना करेंगे, उसको अपने भीतरमें, भावमें और कर्ममें अटल करेंगे, एवं उसको आधार बनाकर सब मनुष्योंके बीच, जगत्‌के बीच उसको गूँथ देंगे, मनुष्यके कर्ममें, जगत्‌के क्रिया-कलापोंमें उसको मूर्तिमान् करके रक्खेंगे।

यह स्वर्गराज्य क्या है ? यह है दिव्य या भागवत-जीवन। जीवनमें भगवान्‌का आविर्भाव और उनकी प्रतिष्ठा, यही हमारा लक्ष्य है। भगवान् हैं पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति, पूर्ण आनन्द। इसी ज्ञानसे, इसी शक्तिसे और इसी आनन्दसे विश्व-ब्रह्माण्ड व्याप्त है तथा इसीसे परिचालित होता है। जो कुछ हम देख रहे हैं, वह इसी ज्ञानका, इसी शक्तिका और इसी आनन्दका मुक्त रूप है। यही पूर्ण ज्ञान, यही पूर्ण शक्ति और यही पूर्ण आनन्द ही हमारा अन्तर्यामी देवता है, हमारा अन्तरात्मा है, हमारा अपना आपा है; किंतु यह ज्ञान, यह शक्ति और यह आनन्द हमारे भीतर छिपे हुए हैं, हमारे बाहर तो उसने केवल छाया ही फैला रक्खी है—लक्ष्य है उसे प्रकट करना, दीप्त करके रखना। वर्तमानमें बाह्य जीवन है खण्ड ज्ञान, खण्ड शक्ति, खण्ड आनन्द अर्थात् भूल और सत्य, दुर्बलता और सबलता, सुख और दुःखका द्वन्द्व। इस द्वन्द्वको दूर करना होगा, खण्डको सम्पूर्ण करना होगा। शरीर रोग, बुढ़ापा, मृत्युका दास; प्राण थकावट और असामर्थ्यका दास; हृदय भावोंकी चञ्चलतासे डाँवाडोल; मन और बुद्धि कल्पनाकी माया-मरीचिकाके और वाद-विवादके शुष्क जाल-जंजालसे आबद्ध। शरीरको अमृतमय करके धारण करना होगा, प्राणोंमें अटूट शान्ति और निरन्तर मिलनेवाली कर्म करनेकी सामर्थ्य होगी, हृदय स्वच्छ प्रशान्त प्रेमसे

भरपूर होगा। मन-बुद्धि सरल दिव्य दृष्टिका क्षेत्र हो जायगी। हम पूर्ण ज्ञानकी दृष्टिसे सब देखेंगे, सब समझेंगे, पूर्ण शक्तिकी प्रेरणासे जीवनके कर्म करेंगे, पूर्ण आनन्दमें सदा प्रतिष्ठित रहेंगे, यही भागवत-जीवन है। मानव-समाज जितना ही इस भावको ग्रहण कर सकेगा, भूतलमें उसी मात्रामें स्वर्ग-राज्यका फैलाव होगा। मानवके व्यष्टिगत जीवनमें इस स्वर्गराज्यकी प्रतिष्ठा होनेपर उसे अपने समष्टिगत जीवनमें प्रतिष्ठित करना पड़ेगा, नहीं तो, वह पूर्ण नहीं हो सकेगा। समष्टिगत जीवनमें, अर्थात् परस्परके सब प्रकारके आदान-प्रदानमें, सामाजिक जीवनमें, केवल इतना ही नहीं, समाजके साथ समाजके, जातिके साथ जातिके और देशके साथ देशके सम्बन्धोंको भी इसीपर आधारित एवं प्रतिष्ठित करना होगा।

लक्ष्य तो यह है पर उपाय ? उपाय है योग-साधन। इस योगसाधनके बारेमें हम यहाँ विशेष कुछ नहीं कहेंगे। वह उपाय जो कुछ हो, उस उपायको सार्थक करनेके लिये जिसकी पहले जरूरत है, उसीकी बात आज कहेंगे। लक्ष्य जान लिया, उपाय भी है, किंतु उसके लिये जरूरत है श्रद्धाकी; अटूट, अकुण्ठित श्रद्धा चाहिये, भगवान्में श्रद्धा चाहिये, भागवत-जीवनमें श्रद्धा चाहिये और श्रद्धा चाहिये अपने-आपपर। इस श्रद्धाके रहनेसे सारी आशा है, इस श्रद्धाके न होनेसे कुछ भी होनेवाला नहीं है। गीताकी बात याद कीजिये 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही हो जाता है।

भगवान्में श्रद्धा रखनेका अर्थ उनके या उनकी शक्तिके बारेमें एक अस्पष्ट धारणामात्र नहीं है—एक मानसिक विश्वास, आस्तिक बुद्धि एवं चित्तका आवेग भी नहीं है। इस तरहका भाव तो प्रायः मनुष्यमात्रमें ही रहता है, ठीक विपदा या सम्पदाके समय अचानक वह जग उठता है, किंतु दूसरे ही क्षण समुद्रकी लहरोंकी तरह विलीन हो जाता है। भगवान्में श्रद्धाका अर्थ है वह श्रद्धा जो ज्ञानपर प्रतिष्ठित है, जिस श्रद्धाके द्वारा हम अपना पूरा जोर लगाकर भगवान्में विश्वास करते हैं, उन्हें कसकर पकड़ लेते हैं, कुछ भी बचाकर नहीं रखते, वरं सम्पूर्ण-भावसे उन्हें आत्मसमर्पण कर देते हैं। भगवान्में श्रद्धाका अर्थ वह श्रद्धा है, जो एक बार प्रतिष्ठित होनेपर हटती नहीं, आँखोंसे देख रही है कि हमारा भाव, हमारा उद्देश्य जिसका आश्रय लेकर नवजीवन पाने जा रहा था, वह सब विफल हो रहा है; फिर भी वह श्रद्धा अटूट अचल रहती है। जिसकी कभी आशा नहीं की थी, वैसी सिद्धि मिल जानेपर जैसा भाव रहता है, उसी प्रकार परम असिद्धि, पूर्ण पराजयके समय भी उसी भावसे वह श्रद्धा विकारहीन रहेगी।

उसके बाद श्रद्धा चाहिये भागवत-जीवनमें। जीवनमें भगवान्को, पृथ्वीकी मिट्टी लेकर स्वर्गके देवताको गढ़नेके लिये, इस आदर्शको पूर्ण करनेके लिये, इसमें एकनिष्ठ होकर रहनेकी जरूरत है। उस साधककी तरह होनेसे नहीं चलेगा जो कहता था कि ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये मैं पाँच वर्ष लगाऊँगा, इन पाँच वर्षोंमें मैं संन्यासी होकर पहाड़ोंमें रहूँगा, इन पाँच वर्षोंमें ब्रह्म मिल जायँ तो अच्छा, नहीं तो, वापस आकर गृहस्थी बसाऊँगा। इस तरहकी अश्रद्धासे, संदेहसे, डाँवाडोल चित्तसे जो आदर्शको प्राप्त करना चाहता है, वह कभी कृतकार्य नहीं होगा। भागवत-जीवनमें हमारा विश्वास नहीं होता। इसका इसके सिवा कोई कारण नहीं कि हमारी पहलेकी शिक्षा, हमारा पुराना अभ्यास, हमारे संस्कार वैसे बने हुए हैं, जो कुछ भी नवीन देखते ही बेचैनी मालूम करते हैं, इसीसे श्रद्धाके बलपर आधारमें ये नवीन संस्कारके बीज रोपने होंगे, नवीन अभ्याससे नयी प्रकारकी शिक्षासे उसको सहज स्वाभाविक बनाना होगा। इसी श्रद्धाके जोरसे ज्ञान प्राप्त होगा, जो आँखोंमें अँगुली डालकर दिखायेगा कि यह आदर्श भगवान्की ही नयी सृष्टिकी इच्छा है, जगत्को नये रूपसे गढ़नेकी प्रेरणा है।

उसके बाद अपने-आपमें श्रद्धाकी आवश्यकता है, अपनी शक्तिमें कभी न घटनेवाला विश्वास होना चाहिये। मनुष्य जो दुर्बल अशक्त है, उसका कारण है शक्तिके ऊपर अश्रद्धा और दुर्बलताके ऊपर श्रद्धा। मनुष्यकी जो इतनी कमजोरी है, उसका प्रथम कारण यह है कि वह समझता है कि इस सामर्थ्यको विपुल या असीम करना असम्भव है। दूसरा कारण यह है कि वह यह नहीं जानता कि किस तरहसे सामर्थ्यको बढ़ाया जा सकता है। फलतः जीवनमें प्रतिमुहूर्त जो सरल सत्य प्रमाणित हो रहा है, हमलोगोंकी अपनी हरेककी जो जानकारी है उसे हम भूल जाते हैं; वह यह है कि असम्भवके लिये चेष्टा करनेसे ही वह सम्भव होता है। वास्तवमें जगत्में जो दुःख-दैन्य है, वह मनुष्यका

ही काम है। वह कृत्रिम चीज है, कृत्रिम इसलिये कि उसके न रहनेसे भी काम चल सकता है, उसका होना कोई बहुत जरूरी नहीं है। अपनी शक्तिपर श्रद्धा रखकर एक बार खड़े होइये तो देखियेगा कि आपकी शक्ति कितनी बढ़ गयी है, रास्ता कितना सरल हो गया है, लक्ष्य भी दूर नहीं है; किंतु एक विषयमें सावधान होनेकी जरूरत है, वह यह कि अपनेपर जो श्रद्धा हो, वह अहंकार या आत्मस्तम्भिता नहीं होनी चाहिये; श्रद्धा ज्ञानपर प्रतिष्ठित है, ज्ञान बताता है कि सब जीवमात्र एक हैं, एक ही महाशक्ति, एक ही भगवान् इन विभिन्न आधारोंमें वास करते हैं— 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'—एवं प्रत्येक आधार, प्रत्येक केन्द्र उसीकी पूर्णतासे पूर्ण है। इस 'पूर्णस्य पूर्णम्' में अपने असली अन्तरात्माके प्रति जीव जब जाग्रत् होगा, तब उसके पक्षमें सब कुछ ही सम्भव होगा।

श्रीरामचरितकी उज्ज्वलता

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामजीके सभी चरित्र आदर्श एवं परम उज्ज्वल हैं। श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामचरित-की पावनतासे तुलना करते हुए श्रीगङ्गाजीकी लहरोंका वर्णन किया है—

सोहत ससि धवल धार सुधा-सलिल-भरित।
विमलतर तरंग लसत रघुबरके-से चरित॥
(विनयपत्रिका १९)

'पावन गंग तरंग माल से' (श्रीरामचरितमानस बा० ३१)

तथा—

'जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु।'
(श्रीरामचरितमानस बा० १२१)

'बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि।'
(रा० मा० अयो०)

'रावनारि जसु पावन।' (रा० मा० अरण्य०)

'त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं।'
(रा० मा० किष्किन्धा०)

'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥'
(रा० मा० लंका० ६६)

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिजीने लिखा है—

चारित्रेण च को युक्तः·········।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
(१।१।३–८)

महर्षिने पूछा—'उत्तम चरित्रसे युक्त कौन पुरुष है?' नारदजीने उत्तर दिया—'ऐसे एक महापुरुष राजा इक्ष्वाकुके कुलमें प्रकट हुए हैं। लोगोंमें 'श्रीराम' के नामसे उनकी प्रसिद्धि है।'

महर्षि व्यासजीने लिखा है—

सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत्।
रामो रामो राम इति प्रजानामभवत्कथा॥
रामाद्रामं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति।
(महा० द्रोण० ५९। २२-२१)

'समस्त प्राणियोंके मनको प्रिय लगनेवाले श्रीराम जब राज्य करने लगे, उस समय समस्त प्रजामें राम, राम, केवल रामकी ही चर्चा होती थी। रामके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् अभिराम-से-अभिराम—परम सुन्दर सुखमय हो गया।'

तथा—

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥
(श्रीमद्भा० ९। १०। ५५)

'श्रीराम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले थे। उनका पावन चरित्र प्राचीन राजर्षियोंके सदृश निर्मल था। वे बाहर और भीतरसे भी परम पवित्र थे। उन्होंने दूसरोंको अपने गृहस्थोचित धर्मकी शिक्षा देते हुए स्वयं उसका आचरण किया।'

यस्यामलं नृपसदःसु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥
(श्रीमद्भा० ९। ११। २१)

'भगवान् श्रीरामका निर्मल यश समस्त पापोंको नष्ट कर देनेवाला है। वह इतनी दूरतक फैल गया है कि दिग्गजोंके

श्यामल शरीर भी उसकी उज्ज्वलतासे आलोकित हो उठा है। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आज भी राजाओंकी सभामें उसका गान करते रहते हैं। स्वर्गके देवता और पृथ्वीके नरपति अपने कमनीय किरीटोंसे उनके चरण-कमलोंकी सेवा करते रहते हैं। मैं उन्हीं रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरण ग्रहण करता हूँ।'

श्रीरामयशकी उज्ज्वलतापर एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध श्लोक है—

महाराज श्रीमञ् जगति यशसा ते धवलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं कुलिशधृगभौमं करिवं
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥

'महाराज श्रीराम! आपके परमोज्ज्वल यशसे समस्त जगत् दुग्ध-सा धवल (श्वेत) हो गया है। श्वेत रंगकी सभी वस्तुएँ उस उज्ज्वल यशोराशिमें खोयी हुई-सी अदृश्य हो गयी हैं; अतएव ये परमपुरुष नारायण अपने निवास-स्थान क्षीरसागरको ढूँढ़ते फिरते हैं, पर पता नहीं पाते। यही हाल महादेवजीका भी है, वे अपने कैलासकी खोजमें लगे हुए हैं। वज्रधारी इन्द्र अपने दिव्य गजराज ऐरावतका पता लगा रहे हैं। राहु ग्रहण लगानेके लिये चन्द्रमाको खोजता फिरता है, पर देख नहीं पाता। कमलमें निवास करनेवाले ब्रह्माजीका हंस भी खो गया है, वे उसीको ढूँढ़ रहे हैं।'

ऐसे परम उज्ज्वल श्रीरामचरितमें भी कुछ लोग कुछ चरित्रोंपर भ्रमसे आक्षेप किया करते हैं। समाधान करनेके लिये उनका उल्लेख किया जाता है—

(१) श्रीरामजीने वालीको छिपकर क्यों मारा, जिससे उन्हें गाली सहनी पड़ी; यथा—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥
(रामचरितमानस कि०)

वालीके इन दो प्रश्नोंमें दूसरेका ही उत्तर श्रीरामजीने दिया है। 'व्याधके समान छिपकर आपने क्यों मारा?' इसपर पहले प्रश्नका उत्तर नहीं दिया गया। इसीसे गाली-का सहन करना लिखा गया है; यथा—

का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति-निरबाहु।
जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों, सो सुनत सोहात न काहु॥
(विनयपत्रिका १०३)

कपि सुग्रीव बंधु-भय-ब्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन-दुख जनके, हत्यो बालि सहि गारी॥
(विनयपत्रिका १६६)

महर्षि वाल्मीकिजीने (४।१८।३६–४१) में जो श्रीरामजीका उत्तर देना लिखा भी है, तो उसे वालीने जबरदस्तीका ही उत्तर मानकर स्वीकार किया है, यथा—

यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तत्तथैव न संशयः॥
प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्।
(४।१८।४५-४६)

अर्थात् 'हे नरश्रेष्ठ! आप जो कहते हैं, वह वैसा ही है। श्रेष्ठ मनुष्यके समक्ष छोटा मनुष्य प्रति-उत्तररूपमें बोल नहीं सकता।'

श्रीगोस्वामीजीने भी इस प्रसङ्गको—

'सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।'

इस वचनसे उसी प्रकार ग्रहण किया है, इसीसे उन वचनोंको नहीं लिखा। गोपियोंने भ्रमर-गीत-प्रसङ्गमें कहा है,

'मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा……'
(श्रीमद्भा० १०।४७।१७)

अर्थात् व्याधके समान वालीको मार डाला, ऐसे स्वेच्छाचारी हैं।

इन वचनोंसे श्रीरामचरितमें भी दोष स्थापित होता है, किंतु भगवान्‌के चरितोंमें दोष नहीं होता, यदि किसीको उनमें दोष देख पड़ता है तो वह अज्ञान-कल्पित है; यथा—

संज्ञायते येन तदस्तदोषं
शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम्।
संदृश्यते वाप्यवगम्यते वा
तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्॥
(वि० पु० ६।५।८७)

अर्थात् 'जिसके द्वारा वे (भगवान्) निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमात्मा देखे या जाने जाते हैं, उसीका नाम ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वही अज्ञान है।'

वास्तवमें भगवान्‌में दोष हैं ही नहीं, तब देखनेमें कहाँसे आयें? यथा—

'समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम्॥'
(वि० पु० १।२२।५३)

अर्थात् 'समस्त हेय गुणोंसे रहित विष्णुनामक परमपद है।'

'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ
स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः ।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः
संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥
तेजोबलैश्वर्यमहावबोध-
सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र
क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ॥

(वि० पु० ६ । ५ । ७९, ८४-८५)

अर्थात् 'हेय (त्याज्य) गुण आदिसे रहित ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज आदि सद्गुण ही 'भगवत्' शब्दके वाच्य हैं। वे भगवान् सम्पूर्ण कल्याणगुणोंके स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंको व्याप्त कर रक्खा है। वे अपनी इच्छासे अपने मनके अनुकूल महान् शरीर धारणकर सम्पूर्ण संसारका कल्याण-साधन करते हैं। वे तेज, बल, ऐश्वर्य, महाविज्ञान, वीर्य और शक्ति आदि गुणोंकी एकमात्र राशि हैं, वे प्रकृति आदिसे परे हैं, उन उभय-विभूतिनायकमें अविद्या आदि सम्पूर्ण क्लेशोंका अत्यन्ताभाव है।' भगवान्ने स्वयं कहा है—
यथा—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्।' (गीता ४ । ९)

अर्थात् 'मेरे जन्म और कर्म निर्मल एवं अलौकिक हैं।'

इन वचनोंसे सिद्ध है कि भगवान्का कोई भी चरित दोषयुक्त नहीं हो सकता। तब उपर्युक्त दोषरूपमें देख पड़नेवाले प्रसङ्गपर विचार करना आवश्यक है; अवश्य वे प्रसङ्ग कल्याणगुणपरक ही हैं। श्रीरामजीके चरित्रोंका रहस्य समझ लेनेपर उक्त प्रसङ्गका असामञ्जस्य दूर हो जाता है।

श्रीरामचरितका रहस्य

भगवान्ने स्वयं कहा है, यथा—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्।' (गीता ४ । ९)

अर्थात् 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं।' दिव्य पदकी सिद्धि—

'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमद-स्वप्नकान्तिगतिषु।'

इस धातुसे होती है। यहाँ क्रीडापरक अर्थ लेना सङ्गत है। जैसे बड़े-बड़े राजा बड़े-बड़े मूल्यवान् जड़ाऊ वस्त्र एवं भूषण धारणकर राजकार्य करते हैं। कभी-कभी एवं सन्ध्या-समय वे मन-बहलावके लिये राजकार्यके मूल्यवान् वस्त्राभूषण उतारकर उपवन एवं वाटिका-विहारकी इच्छासे हल्के वस्त्राभूषण धारणकर उपवन जाते हैं और वहाँ वैसे अभिनय करते हैं। वैसे ही महाराज श्रीरामजी त्रिपाद-विभूतिस्थ श्रीसाकेत (अयोध्या) राजधानीमें उक्त ज्ञान, शक्ति आदि दिव्यगुणरूपी मूल्यवान् वस्त्रोंसे विभूषित रहते हैं। प्रतिकल्पान्तरूपी सन्ध्याकालमें जब वे अपने कृपा, दया, करुणा एवं सौशील्य आदि गुणरूपी वस्त्रोंपर दृष्टि देते हैं, तब इन गुणोंकी तृप्तिकी इच्छासे इन्हें धारणकर इस लीला-विभूति (जगत्) रूपी उपवनमें क्रीडारूपमें टहलनेकी इच्छासे उक्त कृपा आदि गुणरूपी वस्त्रोंको धारण-कर अवतार लेते हैं और उन गुणोंकी तृप्ति करते हुए वैसा ही अभिनय करते हैं। चरितमर्मज्ञ महर्षि वाल्मीकिजीने कहा भी है। यथा—

'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥''

(रामचरितमानस अयो०)

तथा—

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥

(रामचरितमानस बाल०)

भगवान् भक्तोंके लिये इन गुणोंके साथ अवतार लेते हैं और वैसी ही लीला करते हैं—

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥
असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥

(रामचरितमानस उत्तर०)

यह 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' की व्यवस्था वेद-वाक्यसे भी प्रतिपन्न होती है।

यथा—

ॐ युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।

यह पारस्करगृह्यसूत्रमें वस्त्र पहननेके मन्त्रका पूर्वार्ध है। इसके 'स उ श्रेयान् भवति जायमानः।' इस वाक्यखण्डका यह भावार्थ है कि वह परमात्मा कल्याण-गुणोंसे सज-धजकर जन्म लेता है।

उपर्युक्त दृष्टिसे देखनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीरामजीके सभी चरित उनके किसी गुणको प्रकट कर उससे भक्तोंका हित करनेके लिये होते हैं। उदाहरणरूपमें प्रारम्भके दो-एक चरितपर विचार किया जाता है—

१. जैसे कि विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षण-प्रसङ्ग वीर्य-गुण प्रकट करनेके लिये हैं; क्योंकि अभी श्रीरामजीकी पंद्रह वर्षकी किशोर अवस्था थी, इसमें आपने उन अजेय राक्षसोंपर विजय प्राप्त की है, जिनका नाम सुनकर इन्द्रकी सहायता करनेवाले राजा दशरथ भी काँप उठे थे। (वाल्मीकि० १। २०। १५-२० देखिये।)

इस प्रसङ्गमें बाल-अवस्थामें सुखमय माता-पिता एवं राजमहलके वैभवका हर्षपूर्वक त्याग करनेमें त्यागवीरता, मुनियोंके रक्षणमें दयावीरता, विविध प्रकारसे राक्षस-वधमें बाणविद्या-वीरता, उत्साहपूर्वक युद्ध करनेमें पराक्रमवीरता और यज्ञ-रक्षणमें धर्म-वीरता है। इस प्रकार पाँचों प्रकारकी वीरता प्रकट की गयी है। इस अवस्थामें ऐसा असाधारण वीर्य ईश्वरमें ही हो सकता है।

यथा—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

(श्वेता० ६। ८)

इस वीर्यगुणसे दोष और दुःखके साथ भक्तोंकी दुराशा-का नाश होता है। नामार्थ-अनुसन्धान-प्रसङ्गमें स्पष्ट लिखा गया है—

रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥

(रामचरितमानस बाल०)

इसमें ताड़काके समान दुराशा, मारीचके समान दोष-मय मनोवृत्ति और सुबाहु एवं सेनाके समान दुःखमय दुराशासम्बन्धी सङ्कल्पोंका समूह है।

यथा—

पद-राग-जाग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं।
कलि-मल खल देखि भारी भीति भियो हौं॥

(विनय-पत्रिका १८१)

२. दूसरा उदाहरण अहल्योद्धारके निर्हेतु कृपालुता-गुणका है—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥

—यह उपक्रममें लिखा गया है।

सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥
अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित कृपाल।

(रामचरितमानस बाल०)

—यह उपसंहारपर कहा गया है। भगवान्‌की इस निर्हेतु कृपालुतासे आश्रितोंकी जड़मति (कुमति) में चेतनता-रूपी जागर्तिकी प्राप्ति होती है।

यथा—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

(रामचरितमानस बाल०)

सहस सिलातें अति जड़ मति भई है।
कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है॥

(विनय-पत्रिका १८१)

जागर्तिरूपी चेतनता।

यथा—

जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

(रामचरितमानस अयो०)

इसी प्रकार भगवान्‌के सभी चरित उनके गुण प्रकट करनेवाले हैं। उपर्युक्त 'बालि-प्रान कर भङ्ग' प्रकरण भगवान्‌के करुण गुणका प्रकाशक है।

करुण-गुण

आश्रितार्त्यग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः।
अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद् द्रवत्॥
कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्।
इतीच्छादुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वरा॥
परदुःखानुसन्धानाद्विह्वलीभवनं विभोः।
कारुण्याख्यगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः॥

(श्रीभगवद्गुणदर्पण)

अर्थात् आश्रितके दुःखरूपी अग्निसे रक्षकके हृदयका सोनेके समान पिघल जाना, उसके चित्तका अत्यन्त कोमल हो जाना, यहाँतक कि अश्रुपात आदि होने लगना, 'आश्रितके दुःखका निवारण कैसे करूँ और कब कर डालूँ?' इस

प्रकारकी इच्छारूपी दुःखसे दुखी हो जाना और आर्त्तोंके रक्षणार्थ त्वरा (उतावली) होना तथा परदुःखका अनुसन्धान करके परम समर्थ भगवान्‌का विह्वल हो जाना कारुण्य-संज्ञक उनका यह गुण आर्त्तोंके भयका निवारण करनेवाला है। सुग्रीवजीके शरण होनेपर श्रीरामजीके करुण-गुणका इस प्रकार उदय हुआ है—

सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला॥
सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहिं प्रान॥
(रामचरित० कि०)

श्रीसुग्रीवजी पहले श्रीरामजीके आश्रित हो चुके थे। यथा—

पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।

यहाँ 'जोरी प्रीति दृढ़ाइ' इस वाक्यमें शरण होनेका भाव है। आगे श्रीरामजीके वचनसे स्पष्ट हो गया है। यथा—

मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥

महर्षिजीने तो और भी स्पष्ट कर दिया है। यथा—

'रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा॥
संप्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना॥'
(वाल्मीकि० ४। ५। ११-१२)

अर्थात् श्रीसुग्रीवजीने श्रीरामजीसे कहा कि 'यदि मेरी मित्रता आपको रुचती है तो मैं अपनी यह बाहु फैलाता हूँ। आप अपने हाथसे इसका ग्रहण करें और दृढ़ प्रतिज्ञा करें।'

जैसे पाणिगृहीता भार्याका सारा भार उसका भर्त्ता ग्रहण करता है, वैसे ही आश्रित सुग्रीवजीको शरणमें लेकर श्रीरामजीने उनका सारा भार स्वयं लिया था। अतः जब सुग्रीवजीने अपना दुःख कहा—

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।
हरि लीन्हेसि सर्वसु अरु नारी॥
ताकें भय रघुबीर कृपाला।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥
इहाँ साप बस आवत नाहीं।
तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥

इसपर कहा गया है—'सुनि सेवक दुख······'अर्थात् आश्रितकी दीनता और उसके दुःखपर दीनदयालु स्वामीको उक्त रीतिकी करुणा उद्दीप्त हो आयी। इससे आश्रित-रक्षणकी त्वरासे उनकी दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं। आप सेवकके दुःखपर अपने कोमल चित्तसे विह्वल हो गये। अतः नीतिकी सँभाल न रही, इससे सहसा आपने एक ही बाणसे बालीका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली 'सुनु सुग्रीव मारिहउँ······।'

तथा—

'अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम्॥'
(वाल्मीकि० ४। ८। २१)

विह्वलतासे यहाँपर नीतिकी अवहेलना हुई; अन्यथा रावणको दो बार दूतके द्वारा समझाया गया है। यहाँ तो आज ही और एक बाणसे ही वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली गयी। अब श्रीरामजीको प्रतिज्ञा-पालन और आश्रित-रक्षणकी स्वयं त्वरा हुई। अतः वे सुग्रीवको साथ लेकर बालीके समीप गये। सुग्रीवजीने बालीके समीप जाकर गर्जना की। दोनोंका युद्ध हुआ। प्रथम बालीको विजयका श्रेय प्राप्त हुआ। फिर श्रीरामजीने सुग्रीवजीको माला पहनाकर भेजा। तब बालीसे कुछ समयतक युद्ध हुआ। आश्रित सुग्रीवजीको हारा हुआ और सभीत जानकर श्रीरामजीने एक ही महाबाण मारा, उससे बाली व्याकुल हो गिर पड़ा। श्रीरामजी वृक्षकी ओटसे देखते थे, वहींसे उन्होंने बाण-प्रहार किया था।

प्रश्न—श्रीरामजीने करुणावश आतुरतामें एक ही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा की थी। तब सामने होकर भी तो मार ही सकते थे, जब एक ही बाणमें मारना है, तब छिपनेकी क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—(क) श्रीरामजीने सुग्रीवजीके द्वारा बालीके सारे दोष कहे जानेपर और उनके अत्यन्त सभीत एवं आर्त्त होकर प्रार्थना करनेपर यह भी प्रतिज्ञा उसी करुणाके आवेगमें कर ली थी, यथा—

अमोघाः सूर्यसंकाशा निशिता मे शरा इमे।
तस्मिन्वालिनि दुर्वृत्ते पतिष्यन्ति रुषान्विताः॥
यावत्तं न हि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्।
तावत्स जीवेत् पापात्मा वाली चारित्रदूषकः॥
(वाल्मीकि० ४। १०। ३२-३३)

इसमें 'यावत्तं न हि'··' इस चरणमें यह कहा गया है कि

जबतक मैं तुम्हारे स्त्री-हरण करनेवाले वालीको नहीं देखता हूँ; तभीतक वह पापी जीवे। इस वचनके अनुसार सामने रहनेपर वालीको युद्धका यश कुछ भी न मिलता तथा सुग्रीवजीकी भी युद्धाकाङ्क्षा रह ही जाती। इससे आप तबतक छिपे रहे, बाण चलाकर तब सम्मुख हुए, इससे इस प्रतिज्ञाकी भी रक्षा की है।

(ख) वालीके प्रति किसी ऋषिका वरदान था कि सम्मुख होनेवाले योद्धाका बल उसे प्राप्त हो जाता था। यह वरदान महर्षिजीके निम्न लिखित वचनोंसे ठीक जान पड़ता है।

१. परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा।
आसीद्धीनोऽसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत॥

(वाल्मीकि० ४। ११। ४४)

अर्थात् उस युद्धमें परस्पर (वाली और दुन्दुभि) प्रहार करते थे। तब असुरका बल कम पड़ने लगा और इन्द्रपुत्र वालीका बल बढ़ने लगा। पीछे तुरंत वालीने उसे मार डाला।

इस प्रसङ्गमें असुरका बल घटने लगा और साथ ही 'वालीका बढ़ने लगा' इस वचनमें वह वरदान घटित होता है। ऐसा ही एक दूसरा प्रसङ्ग है—

२. वाल्मीकीय रामायण-उत्तरकाण्ड सर्ग ३४ में लिखा है कि रावण वालीसे विजय प्राप्त करनेके लिये किष्किन्धा गया। वाली उस समय दक्षिण-सागर-तटपर सन्ध्या कर रहा था, रावण वहाँ भी गया। सम्भवतः रावणको वालीके उक्त वरदानकी बात ज्ञात थी। इससे वह वालीको पीछेसे ही पकड़नेके लिये धीरे-धीरे निःशब्द पैरोंसे जा रहा था, यथा—

ग्रहीतुं वालिनं तूर्णं निःशब्दपदमव्रजत्॥१३॥

अकस्मात् रावणको इस अभिप्रायसे आते हुए वालीने देख लिया। उसने मनमें निश्चित कर लिया कि मैं पकड़कर इसे काँखमें दबाकर शेष तीनों समुद्रोंकी भी सन्ध्या पूरी करूँगा। उधर रावण भी वालीको पीछेसे ही पकड़ लेनेके अभिप्रायसे चुपकेसे नितान्त समीप पहुँचा।

हस्तग्राहं तु तं मत्वा पादशब्देन रावणम्।
पराङ्मुखोऽपि जग्राह वाली सर्पमिवाण्डजः॥२०॥
ग्रहीतुकामं तं गृह्य रक्षसामीश्वरं हरिः।
खमुत्पपात वेगेन कृत्वा कक्षावलम्बिनम्॥२१॥

रावणके पैरोंकी आहटसे वालीने समझ लिया कि मैं अब इसे हाथसे ही पकड़ लूँगा। तब वालीने दूसरी ओर मुख किये हुए ही सर्पको गरुड़के समान, रावणको पकड़ लिया। इस प्रकार वालीने रावणको पकड़ लिया और काँखमें रावणको दबाकर वह वेगसे आकाशको उछला।

इस प्रकार वालीने उसे पीछेसे ही पकड़ा। सम्मुख होकर पकड़ता तो रावणका गर्व रह जाता कि इसने वरदानके प्रभावसे पकड़ा है। यहाँ वालीने उसे अपना पुरुषार्थ दिखाया है।

इन प्रसङ्गोंसे यदि वह वरदानकी बात ठीक मानी जाय तो ऋषि-वाक्य-रक्षाके लिये भी श्रीरामजी उसके सम्मुख नहीं हुए। नरनाट्यमें उक्त वरदानका भी निर्वाह करना था।

(२) आक्षेपका दूसरा उदाहरण यह है कि महारानी श्रीसीताजीको शुद्ध जानते हुए एवं अग्नि-परीक्षासे शुद्ध किये हुए भी श्रीरामजीने कुछ अनभिज्ञोंके कहनेपर क्यों निकाला? क्या यह महारानीके प्रति अन्याय नहीं किया गया?

(३) तीसरा आक्षेप यह है कि अपना उत्कर्ष चाहते हुए तपस्वी शूद्र शम्बूकका क्यों वध किया गया?

इन दूसरे और तीसरे आक्षेपोंका उत्तर 'कल्याण' १२ वें वर्षके ११-१२ वें अङ्कके 'श्रीराम-राज्य-रहस्य' शीर्षक लेखमें आ गये हैं।

(४) एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि श्रीरामचरितमानस-लङ्काकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेपर श्रीरामजीने एक ही दोहेके भीतर चार बातें असङ्गत कही हैं। वे बातें यदि प्रलापरूपमें हैं तो ईश्वरमें ऐसी अनवधानता कैसे हो सकती है?

इस आक्षेपका उत्तर देते हुए मैं पहले इस प्रसङ्गको उद्धृत कर देना चाहता हूँ, तब समाधान करना ठीक होगा।

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥
अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥

जेहउँ अवध कौन मुहु लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥
वरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं ॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥
उतरु काह देहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन ॥
उमा एक अखंड रघुराई। नर गति भगत कृपाल देखाई ॥

प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।
आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ बीररस ॥

इस प्रसङ्गमें भी भक्तपर उपर्युक्त करुणा दिखलायी गयी है। इस करुण-रसके उपक्रममें 'बोले बचन मनुज अनुसारी' लिखा गया है और उपसंहारपर भी 'नर गति भगत कृपाल देखाई' है। करुणामें विह्वलता आदिका नाट्य करना होता है, वह ऐश्वर्य-वृत्तिमें नहीं बनता; क्योंकि ईश्वरमें अनवधानता कैसी ? जबतक विह्वलता आदि न हों, तबतक करुण-रसकी पूर्ति नहीं हो सकती। इसलिये नर-गतिमें ही यह चरित किया गया है।

करुणरस, यथा—

शोकस्थायिभावको मृताद्यालम्बनकस्तद्गुणाद्युद्दीपितो रोदनाद्यनुभावितो दैन्यादिसंचारितः करुणः।

अर्थात् 'शोक स्थायीभाववाला, मृत आदि आलम्बन-वाला, उस पात्रके गुण आदिसे उद्दीप्त, रोदन आदिसे अनुभावित और दैन्य आदिसे सञ्चारित करुण रस होता है।'

उपर्युक्त प्रसङ्गमें 'अर्ध राति गइ...' इस अर्द्धालीमें मृत-संभावना आलम्बन है। 'सकहु न दुखित...' एवं 'मम हित लागि...' इन दो अर्द्धालियोंमें गुण-कथनसे उद्दीपन है। 'जौं जनतेउँ बन...' से 'उतरु काह देहउँ...' यहाँतक रोदनद्वारा अनुभाव है। 'जथा पंख बिनु खग...' एवं 'अस मम जिवन...' इन अर्द्धालियोंमें दीनता-कथन सञ्चारी है और 'अब अपलोकु सोकु...' इसमें शोक-सम्भावना तथा 'प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।' इसमें शोककी पूर्णता स्थायीभाव है, श्रीरामजीके प्रलापकथन एवं शोकपर सारी वानरी सेना शोकसे व्याकुल हो गयी। महर्षिजीने इसी प्रसङ्गपर स्पष्ट कहा है, यथा—

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवमहाबलाः।
परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः ॥
(वाल्मीकि० ६।४९।९)

अर्थात् श्रीसुग्रीवजीके साथ समस्त वानरश्रेष्ठ शोकपूर्ण होकर दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मणके पास चारों ओरसे उपस्थित हैं। इस प्रकार करुण-रसको स्थायी कहकर तब कहा गया है—

आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीररस।

अर्थात् करुण-रसकी पूर्णतापर 'जिमि करुना' इस पदसे उसका निर्देश किया गया है। आगे बीररस कहकर सूचित किया गया है कि इस वीररससे करुण-रसका शमन होता है और अब आगे वीररसकी प्रवृत्ति होगी।

इस करुण-रसकी पूर्तिपर 'प्रभु प्रलाप...' कहकर उपर्युक्त रोदनको करुणाका प्रलाप कहा गया है। 'प्रलापोऽनर्थकं वचः।' इस अमरकोषके प्रमाणसे यहाँ करुणाकी विह्वलतामें प्रभुका नर-नाट्यमें कुछ ठीक और कुछ असङ्गत कथन प्रलाप ही है। स्मृति भूल गयी है; शोकमें ऐसा होता है, यथा—

सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ग्यान न धीरज लाजा ॥
(रामचरित० अयो०)

रावणकी मृत्यु नरके हाथ होनेसे ब्रह्माजीका वचन सत्य होगा; इसलिये नरके समान प्रलाप किया गया है। साथ ही बन्धु-प्रेमकी पराकाष्ठा दिखाते हुए शोकपूर्णता प्रकट कर पुरुषोत्तमताका आदर्श दिखाया गया है। इस प्रसङ्गसे भगवान्‌का भक्तपर स्नेह भी प्रकट किया गया है, इसीसे प्रसङ्ग-पूर्तिपर 'भगत-कृपाल' कहा गया है। श्रीलक्ष्मणजीकी भक्ति सर्वत्र प्रकट है, उनके प्रति स्वामीका कैसा स्नेह है, यह भी यहाँ दिखाया गया है। अन्यथा ऐसी ही शक्ति दूसरी बार लक्ष्मणजीपर रावणने भी चलायी है, परंतु प्रभुने वचन-मात्रसे कहकर भाईको चैतन्य कर दिया है; क्योंकि अब तो रावणादि यही समझेंगे कि पूर्वकी ओषधिसे अच्छे हो गये। अतः ब्रह्माको झूठा न कहेंगे।

करुण-रसकी पूर्तिपर ईश्वरताकी सँभाल करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—'उमा एक अखंड रघुराई।' अर्थात् भगवान् श्रीरामजी एक हैं। अतः इनमें शोक वास्तविक नहीं (लीलामात्र) है, यथा—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः......' (श्वेता० ६।११)
'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'
(ईश० ७)

अर्थात् एकत्व दृष्टिपर शोक एवं मोह नहीं होता।

अखण्ड हैं, अतः उनमें संयोग-वियोगका विकार भी यथार्थ नहीं है। यह लीलामात्र है। करुणाका स्वाँग दिखाया गया है। भक्तगण इस लीलाकी भावनासे भगवान्‌की करुणासे लाभ उठाते हैं।

इस लक्ष्मण-विरह-प्रसङ्गमें जो असङ्गत चार बातें हैं—

१.–पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।

२.–मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।

३–निज जननी के एक कुमारा।

४–सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।

इनकी व्यवस्था उपर्युक्त रीतिसे करुणापतिकी अनवधानतासे प्रलाप-कथन माननेसे ही होती है। और अनेक प्रकारके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा है—

'सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।'

(रामचरित० बाल०)

अतएव सीधे शब्दार्थमें ही अर्थकी व्यवस्था करनी चाहिये। इन प्रसङ्गोंपर जो नाना प्रकारके अर्थ किये जाते हैं, वे तर्कपर रखनेसे कट जाते हैं। नाना प्रकारके अर्थ करके उनका खण्डन करनेमें प्रकरण बहुत बढ़ जायगा। इसलिये मैंने उन्हें नहीं लिखा।

रामायण यद्यपि इतिहास है। अतएव इसमें गुणके साथ दोष भी कहा जा सकता है, तथापि यहाँ तो भगवान् श्रीरामजीके स्वरूप एवं चरितमें दोष हैं ही नहीं, उपर्युक्त विष्णुपुराणके प्रमाण देखें, तब दोष कहाँसे लाये जायँ।

साहित्यकी रीति भी है कि जिसका उत्कर्ष कहा जाता है, तब उसका पराजय आदि अपकर्ष भिन्न प्रसङ्गमें कहा जाता है। जैसे वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्डमें महर्षि अगस्त्यजीने रावणकी विजय कहनेके समय उसकी पराजयकी कथाएँ नहीं कहीं, यद्यपि वे प्रसङ्ग उसी दिग्विजयके साथके हैं। जब श्रीरामजीने उनसे पूछा कि 'क्या वह कहीं हारा ही नहीं?' तब उन्होंने पृथक् प्रसङ्गमें उसकी हारके प्रसङ्ग कहे।

इस रीतिसे भी रामायणमें श्रीरामजीके दोष कथन होनेकी सम्भावना नहीं हो सकती; क्योंकि श्रीवाल्मीकिजीने और श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीरामजीके यश-कथनकी ही प्रतिज्ञा की है। यथा—

'को न्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।

अर्थात् 'इस समय संसारमें कौन गुणवान् और पराक्रमी है?'

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।

(वाल्मीकि० १।१।३–७)

'आपने जो बहुत-से दुर्लभ गुण गिनाये हैं (वे सब श्रीराममें हैं)' तथा—

'करन चहउँ रघुपति गुन गाहा।'

(रामचरित० बा० ७)

यह उपक्रममें कहा गया है।

'कछुक राम गुन कहेउँ बखानी।'

(रामचरित० उ० ५१)

यह उपसंहारपर कहा गया है।

इस प्रकार श्रीरामचरितकी उज्ज्वलताके प्रति आक्षेपोंके यथामति समाधान किये गये हैं। और भी यदि कोई आक्षेप आवेंगे तो उनपर भी यथामति चेष्टा की जायगी।

उपदेश

तुलसी हठि हठि कहत नित चित सुनि हित करि मानि।
लाभ रामसुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि॥
तुलसी ममता रामसों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भये भवपार॥
बिगरी जनम अनेककी सुधरै अबही आजु।
होहि रामको नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥

अपने कामको ईमानदारीसे पूर्ण करना ही प्रभुकी पूजा है

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

गीतामें एक बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है, जिसकी सिद्धि प्रत्येक कर्ममें निरत साधकके लिये उपयोगी है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

अर्थात् जो व्यक्ति अपने कार्यको सचाईसे परिपूर्ण करता है, वह प्रभुकी पूजा करता है और उसीसे उसको सिद्धिकी प्राप्ति होती है ।

हम सब भिन्न-भिन्न कार्य मानवसमाजके लिये सम्पन्न कर रहे हैं । कृषक दिन-रात खून-पसीना कर अन्नोत्पादन करते हैं । मजदूर दिनभर सख्त परिश्रम करते हैं । बनिये नाना स्थानोंसे वस्तुएँ ला-लाकर गृहस्थोंके लिये उपादेय बनाते हैं । ब्राह्मणवर्ग ज्ञान प्राप्तकर साधारण जनताको विद्यादान देनेमें निरत हैं । इसके अतिरिक्त एक बड़ा भाग उन शूद्रोंका है, जो दिन-रात सवर्णोंकी सेवा किया करते हैं । संक्षेपमें, प्रत्येक नागरिकके पास कोई-न-कोई काम है । वह इसे अर्थप्राप्ति जीविकोपार्जनके लिये करता है । बिना काम किये उसे रोटी नहीं प्राप्त होती । संसारका नियम कुछ ऐसा है कि जो जितना काम करे, उसे उतना ही सुख-सुविधा प्राप्त हो । परिश्रमके अनुसार समृद्धि प्राप्त होना ईश्वरीय व्यवस्था है ।

किंतु आज हम देखते हैं कि इस ईश्वरीय व्यवस्थामें धीरे-धीरे हमारी नीची भावनासे भ्रष्टाचार आ गया है । कुछ दिनोंकी बात है, हमने एक कम्पाउंडरसे पूछा—'भाई साहब ! आपकी आय ४५) रुपये मासिक है, सात-आठ व्यक्ति कुटुम्बमें हैं । आपलोग अच्छा खाते, अच्छा पहनते हैं । तिसपर आप मकान बनवा रहे हैं । आप कैसे यह आर्थिक सुव्यवस्था कर लेते हैं । बतलाइये ?'

वे बोले—'छः हजारमें कच्चा टूटा-फूटा मकान लिया था । ऊपरसे सात-आठ हजार और लग गये । तब कहीं यह मकान तैयार हुआ है प्रोफेसर साहब ! शफाखानेकी बँधी आमदनीमें क्या होता है । ऊपरकी आमदनीसे ही काम चलता है । यदि ऊपरसे न कमायें, तो काम कैसे चले । न साफ कपड़े मिलें, न रहनेके लिये घरबार ही ।'

और यह ऊपरकी आमदनी आती किस प्रकार है ? मुफ्तके अस्पतालसे लायी हुई दवाइयोंका एक शफाखाना कम्पाउंडर साहबके घरमें चलता है । यहाँ मरीजोंका ठीक ड्रेसिङ्ग न कर उन्हें घरपर पट्टी बँधाने आनेके लिये बाध्य किया जाता है, जहाँ उन्हें पैसे देने पड़ते हैं । प्रत्येक मरीजके घर जानेका एक-एक रुपया अलग-से रहा । यदि कोई ऑपरेशनका रोगी फँस गया तो कुछ न पूछिये, मासका वेतन उसीसे वसूल हुआ समझिये । यह एक उदाहरण है, उस सार्वजनिक जीवनकी बीमारीका, जो हमें खाये जा रही है ।

इसी प्रकारके रिश्वत, भ्रष्टाचार, काला बाजार या श्रमकी चोरीके सैकड़ों उदाहरण पेश किये जा सकते हैं । जो व्यक्ति कोर्टके मुकदमोंमें फँसा है, वह जानता है कि प्रत्येक चपरासीसे लेकर मुहर्रिर, नकलनवीस तथा उच्च अधिकारीतक ऊपरकी आमदनी कमानेमें व्यस्त हैं । शिक्षा-संस्थाओंमें जो कार्य अध्यापकोंको निज कर्तव्य समझकर प्रेम और उदारतासे सम्पन्न करना चाहिये, उसीका व्यापार किया जाता है । यह हमारे सार्वजनिक जीवनका कलङ्क है ।

जो सार्वजनिक संस्थाओंमें नौकर हैं और राज्यसे वेतन प्राप्त करते हैं, उनका यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि अपने पेशेसे सम्बन्धित नाना कार्योंको प्रभुकी सेवाके समान पवित्र समझकर सम्पन्न करें ।

जनता प्रभुका रूप है। जनता-जनार्दनकी सेवा करना परमेश्वरकी पूजा करनेसे कम नहीं है। अध्यापक, पुलिसकर्मचारी, डाक्टर, कम्पाउंडर, कचहरियोंके तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओंके कार्यकर्ता नित्यप्रति जनताके निकट-सम्पर्कमें आते रहते हैं। उन्हें अपने आपको सौभाग्यशाली समझना चाहिये कि प्रभुस्वरूप जनताकी सेवा करनेका पुण्य अवसर प्राप्त हो रहा है।

पापकी कमाई नष्ट हो जाती है। रिश्वतसे कमाया हुआ धन क्षणभरमें निकल जाता है। धोखेबाजी, चोरी, अनुचित उपायोंसे जनताको डरा-धमकाकर अर्जित धन कभी नहीं फलता-फूलता। धर्मकी कमाईका एक पैसा झूठ और बेईमानीद्वारा अर्जित हजार रुपयेसे कहीं श्रेष्ठ है।

कार्लाइलने निर्देश किया है, Work is worship अर्थात् कार्य ही पूजा है। इस विद्वान्‌के इस वाक्यमें गहरी सत्यता निहित है। जब हम अपने कार्यको पूजा मानकर करते हैं, तब हमारे अंदर ईश्वरीय शक्ति-द्वारा प्रकाशित अनुपम ईमानदारी, सहृदयता, पवित्रता, साधुता, सरलता, शक्ति, कार्यनिष्ठा जाग्रत् हो जाती है। हमारे तन, मन, प्राण एकरस होकर काममें एकाग्र हो जाते हैं। एक गुप्त शक्ति हमारे कण-कणमें कामके प्रति दिलचस्पी और एकरसता भर देती है। जिसने अपनी भावनाका तार-तार ईश्वरसे संयुक्त कर लिया है, वह जानता है कि दैवीशक्तिके तादात्म्यसे हमारी कार्यसम्पादिका शक्तिकी कैसी अभिवृद्धि हो जाती है।

बौद्धिक दृष्टिकोणसे अधूरा, अधकचरा, अपूर्ण काम करना या पैसे लेकर पूरा श्रम न करना अन्यायपूर्ण है। कहाँका न्याय है कि हम मजदूरी तो पूरी लें और समय व्यर्थ लुक-छिपकर काट दें? हमें स्मरण रखना चाहिये कि न्याय सर्वोपरि है; न्याय यम-नियमकी आत्मा है; मानवताका दुग्ध है, योगका आधार है और धर्मका स्तम्भ है। सत्य सत्यके लिये प्यारा नहीं है, न्यायके लिये प्यारा है। अस्तेय अस्तेयके लिये नहीं, न्यायके लिये है। कामकी चोरी अन्याय है। हमारे नैतिक जीवनके लिये नितान्त अनुचित है। जब हम दूसरी तरहकी चोरियोंसे परहेज करते हैं और उन्हें निन्द्य मानते हैं, तब पूरा काम न करना या कामसे जी चुराकर अधिक रुपयेके लोभमें काम करना भी निन्द्य समझना चाहिये।

यदि हम अपने स्थानपर रहकर पूरा और खरा काम करते हैं, अनुचित रीतिसे आर्थिक लोभवश अपने मालिकोंको धोखा नहीं देते हैं तो हम कर्ममार्गके पथिक बन जाते हैं। श्रीमती लिली एल० एलनका विचार है कि 'पूरे और खरे कार्यके समक्ष सबको झुकना पड़ता है। जो छोटा-से-छोटा कार्य निकम्मा, अधूरा अथवा आधे मनसे किया जाता है, वही परमात्माकी सेवा या अपना कर्तव्य समझकर सम्पूर्ण चातुर्य तथा कलासे अच्छा भी किया जा सकता है। किसी भी स्त्री या पुरुषके लिये इससे अधिक लज्जा और पतनकी क्या बात होगी—उसे एक कार्यको दुबारा करनेके लिये कहा जाय कि उसने अपना कार्य आधे मनसे किया है।'

जिस शैली या ढंगसे कोई कार्य किया जाता है, वही कार्य करनेवाले व्यक्तिके चरित्रको प्रकट कर देता है। रिश्वत या ऊपरकी आमदनीके मोहमें फँसे हुए आदमीका दिल कार्यमें नहीं होता। वह आदमी चाहे किसी परिस्थितिमें क्यों न हो, कम काम करके अधिक पैसा खींचनेके लोभमें लगा रहता है। यह वृत्ति सर्वथा त्याज्य है। कुछ व्यक्ति मालिककी उपस्थितिमें तो कार्य करते हैं; किंतु अनुपस्थितिमें कुछ नहीं करना चाहते। ऐसे व्यक्ति भी चोर हैं। हमें अपने जीवनको वास्तविक इतना पूर्ण एवं परिश्रमी बनाना चाहिये कि ऊपरसे कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा ही मनमें शेष न रहे।

सत्य, क्षमा, तितिक्षा, इन्द्रियदमन आदिकी महिमा

महाभारत शान्तिपर्व ज्ञानका भण्डार है। उसमें ऐसे एक-से-एक बढ़कर महत्त्वपूर्ण उपदेश भरे पड़े हैं, जिनके एक-एकके मनन और धारणसे जीवन पवित्र और सुखमय हो सकता है। संसारके लोग यदि इन उपदेशोंके अनुसार कार्य करने लगें तो सारे उपद्रव शान्त होकर जगत् सुखी और कल्याण-पथका अधिकारी हो सकता है। आज यहाँ, हंसरूपसे प्रजापतिने साध्यगणों-को जो उपदेश किया था, उसीका सार 'कल्याण'के पाठकोंके और अपने हितार्थ दिया जाता है। हंसने कहा—

'अमृतपान करनेवाले देवो! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रियोंका दमन, सत्य और आत्मसंयम आदि कार्य ही सबसे श्रेष्ठ हैं। हृदयकी गाँठोंको खोलकर प्रिय (मन-इन्द्रियोंके अनुकूल विषय) और अप्रिय (मन-इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषय) को अपने वशमें कर ले। अर्थात् न तो अनुकूल विषय-की प्राप्तिमें हर्ष हो और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें उद्वेग हो*। किसीके मर्ममें चोट न पहुँचावे, कठोर वचन न बोले, नीच मनुष्यसे श्रेष्ठ वस्तु समझनेकी चेष्टा न करे, जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकादि पापलोकोंमें डालनेवाली अमङ्गलमयी बात भी न कहे। वचनरूपी वाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनकी चोट खाकर मनुष्य दिन-रात शोकमें डूबा रहता है। वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, अतएव विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह किसीपर भी वाग्बाणका प्रयोग न करे। दूसरा कोई भी यदि विद्वान्को कटु वचनरूपी बाणोंसे खूब घायल करे तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिये। दूसरोंके क्रोध करनेपर भी जो बदलेमें प्रसन्न ही रहता है, वह उनके पुण्यको ग्रहण कर लेता है।* जो जगत्में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालने-वाले प्रज्वलित क्रोधका दमन कर लेता है, जिसका चित्त दोषरहित और प्रमुदित रहता है तथा दूसरोंके दोष नहीं देखता, वह पुरुष अपनेसे द्वेष रखनेवालोंके पुण्य छीन लेता है। मुझे कोई गाली दे तो भी मैं चुप रह जाता हूँ, कोई मारे तो भी मैं उसे क्षमा करता हूँ। आर्यपुरुष क्षमा, सत्य, सरलता और अनिष्ठुरता (दया) को श्रेष्ठ बतलाते हैं। वेदका फल है सत्य, उसका फल है इन्द्रिय-मनका दमन और उसका फल है मोक्ष। यही सत्यका अनुशासन शास्त्रका आदेश है। वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग, उदरका वेग और उपस्थका वेग—इन प्रचण्ड वेगोंको जो सह लेता है, उसीको मैं ब्राह्मण और मुनि कहता हूँ। क्रोधीसे क्रोध न करनेवाला, सहन न करनेवालेसे सहनशील, अमानवसे मानव और अज्ञानीसे ज्ञानी श्रेष्ठ है। जो दूसरेकी गाली सुनकर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस सहनशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको भस्म कर सकता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है†।

'दूसरेके मुखसे कड़वे वचन सुनकर भी जो उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके

---

* न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। (गीता ५। २०)

* वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥
परश्चेदेनमतिवादबाणैर्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिमृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥
(महाभारत, शान्ति० २८३। ९, १०)

† आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेवं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥
(महाभारत, शान्ति० २८३। १६)

मारनेपर भी जो वैरभावसे बदलेमें न तो उसे मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस पुरुषके दर्शनके लिये देवता भी सदा ललचाते रहते हैं। पाप करनेवाला अपनेसे बड़ा हो या बराबरका, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष परमसिद्धिको—मोक्षको प्राप्त होता है।

'यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ तथापि सदा सत्पुरुषोंकी उपासना करता हूँ, (सत्सङ्ग और सत्सेवन करता हूँ।) मुझपर न तृष्णाका जोर चलता है, न क्रोधका। मैं लोभवश धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता, न विषयोंकी इच्छासे कहीं आता-जाता हूँ, मुझे कोई शाप दे दे तो भी मैं उसे शाप नहीं देता, मैं इन्द्रिय-मनके दमनको अमृत—मोक्षका द्वार जानता हूँ। इस समय तुमलोगोंको मैं एक गुप्त रहस्य बतला रहा हूँ। वह यह है कि मनुष्य-शरीरसे बढ़कर श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार बादलोंके आवरणसे छूटकर चन्द्रमा प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त होकर शुद्धचित्त धीर पुरुष धैर्यके साथ कालकी प्रतीक्षा करता है (पवित्र साधनोंमें लगा रहता है, घबराता नहीं), वह इससे सिद्धिको प्राप्त होता है। जो अपने सद्व्यवहारसे आधारस्तम्भकी भाँति सबके आदरका पात्र होता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नताके साथ मधुर वचन बोलते हैं, वह संयतात्मा पुरुष देवभावको प्राप्त हो जाता है। किसीसे द्वेष या डाह रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका उत्साहपूर्वक वर्णन करना चाहते हैं, उस तरह उसके अंदर रहे हुए कल्याणमय गुणोंका बखान नहीं करना चाहते। जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर (बुराईसे सदा बचे रहकर) भगवान्‌के नाम-गुण-कीर्तन और चिन्तनमें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फलको पा जाता है।

'अतएव बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह गाली देने और अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके दोष बतलाकर समझानेका प्रयत्न न करे, उनके क्रोधको न बढ़ावे और न अपनी हिंसा करे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति परितृप्त हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है; किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है। क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता, दान देता, तप करता और हवन करता है, उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं। क्रोध करनेवालेका यह सारा परिश्रम व्यर्थ होता है। देवताओ! जो पुरुष अपने उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—इन चार द्वारोंको पापसे बचाये रखता है, वही धर्मको जाननेवाला है। जो पुरुष सत्य, मन-इन्द्रिय-दमन, सरलता, अनिष्ठुरता (दया), धृति और सहनशीलताका विशेषरूपसे सेवन करता है, स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु लेना नहीं चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, वह उच्च गतिको प्राप्त होता है। जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी प्रकार मनुष्यको सब सद्गुणोंका सेवन करना चाहिये। मेरी समझसे सत्यसे बढ़कर पवित्रतम कुछ भी नहीं है। मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता हूँ कि जैसे समुद्रसे पार होनेका साधन जहाज है, उसी प्रकार सत्य ही दिव्यलोकतक पहुँचनेकी सीढ़ी है।

'मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन-सङ्ग करता है और जैसा होना चाहता है वैसा ही होता है। जैसे सफेद वस्त्रको जिस रंगमें रँगा जाय, वह वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी साधु, असाधु, तपस्वी या चोर—जिसका सङ्ग करता है, उसीके वश हो जाता है। देवतागण सदा साधु पुरुषोंका सङ्ग करते हैं—उन्हींकी बातें सुनते हैं, इसीलिये वे मनुष्योंके विषय-भोगोंकी ओर देखने भी

नहीं जाते। जो विषयोंके बढ़ने-घटनेवाले स्वरूपको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा कर सकते हैं, न वायु। जो दोषोंको छोड़कर हृदयके अंदर रहनेवाले पुरुषोत्तम भगवान्के ध्यानमें स्थित रहता है, वही सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थित है, उसीके साथ देवता प्रेम करते हैं। जो शिश्नोदरपरायण हैं अर्थात् सदा पेट पालने और जननेन्द्रियके भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं तथा जो चोरी करने और कठोर वाणी बोलनेवाले हैं, वे यदि (प्रायश्चित्त आदिके द्वारा) उन कर्मोंके दोषसे छूट भी जायँ तो भी देवतालोग उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं। सत्त्वगुणसे रहित और सब कुछ खा जानेवाले पापकर्मी मनुष्य देवताओंको संतुष्ट नहीं कर सकते; देवता तो सत्यपरायण, कृतज्ञ और धर्ममें रत पुरुषोंके साथ ही प्रेम करते हैं।

बोधमाला

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(८१) भाई! तुमने मायाको पकड़ा है या मायाने तुमको पकड़ रक्खा है? तुम कहते हो कि मायाने तुमको पकड़ा है, यह झूठी बात है। मायाके पास तुम जाते हो। दरिद्र बनकर मायाको तुम माँगते हो। जगत्के कौन-से पदार्थ आकर तुमसे चिपके हैं? जो-जो प्राणी या पदार्थ तुमको दुःखदायी लगते हैं, उनका क्यों नहीं त्याग कर देते? तुमको उनमें ममत्व है, तुम उनसे सुख चाहते हो। तुम यह आशा करते हो कि यह सब जैसा है वैसा बना रहे और तुम्हें मुक्ति मिल जाय; परंतु मूर्ख! भोग और मुक्ति दोनों साथ नहीं रहते। प्रकाश और अन्धकार कभी साथ रह सकते हैं? मुक्ति तो भोगमात्रके अभावको कहते हैं। चित्तकी आत्यन्तिक शान्तिरूपी मुक्ति तुम्हें चाहिये, दुःखमात्रकी निवृत्ति तुम्हें चाहिये, अखण्ड शान्ति और अखण्ड आनन्द तुम्हें चाहिये, तो जगत्के प्राणी-पदार्थोंसे सुखी होनेकी इच्छामात्रको छोड़कर अपने स्व-स्वरूपमें रमण करो और भोगमात्रका त्याग करो।

(८२) जिस धर्ममें दूसरेको दुःख पहुँचानेकी, दूसरेकी हिंसा करनेकी बात कही हो, वह धर्म नहीं है, वह मोक्ष-धर्म नहीं है। दूसरेको सुख और शान्ति प्रदान करनेसे ही अपनेको सुख और शान्ति मिल सकती है। दूसरेको दुःख देनेसे जरूर ही अपनेको दुःख मिलेगा। तुम अमुक पंथ या मतके हो, इस बातको भूल जाओ। मत-मतान्तरके घेरेसे बाहर निकलो और परमात्माकी अनन्य-शरण हो जाओ, उनके नामका खूब जप करो, उसकी साकार मूर्तिका ध्यान करो, भोगमात्रके त्याग करनेका अभ्यास करो, मनको निर्विचार स्थितिमें रखनेका अभ्यास करो और हर एक हालत और संयोगोंमें मन निर्विकार रह सके, इसका अभ्यास करो। अपने सुखके लिये जगत्के किसी प्राणी-पदार्थकी इच्छा न करो। सुख किसी प्राणी या पदार्थमें नहीं है, बल्कि तुम्हारे आत्मामें है। तुम स्वयं सुख-स्वरूप हो। तुम्हारे साथ दूसरे सुखी जान पड़ते हैं। तुम चेतन हो, नित्य हो, तुम सत्-चित् और आनन्दस्वरूप हो।

(८३) सभी देवताओंको नमस्कार करो—चाहे वे किसी भी पंथ या सम्प्रदायके हों। वृद्धमात्रको आदर प्रदान करो। देवताकी मूर्तिके भीतर चेतन आत्मा व्यापक है, उसे देखो। उसको जो नमस्कार करते हो, वह व्यापक परमात्माको होता है, ऐसा समझो। तुम्हारा उपकार करनेवाला देवता-स्वरूप है। उपकार करनेवालेको कभी

न भूलो । उपकारीकी निन्दा कभी न करो । उपकारीकी बुराई करनेवाला कृतघ्न कहलाता है । सभी पापियोंके लिये प्रायश्चित्त है; परंतु कृतघ्नीको पावन करनेवाला कोई नहीं है ।

(८४) पेड़में, पशुमें, पक्षीमे, कीड़ेमे, पत्थरमें, देवतामें, दानवमें, मानवमें—सबमें व्यापक परमात्मा विराजमान हैं । जैसे तुम्हारे शरीरमें चेतन आत्मा है, उसी प्रकार उनके शरीरमें भी चेतन आत्मा है । इसलिये तुम्हारा और उनका आत्मा एक स्वरूप है । सबके साथ आत्माका नाता रक्खो और इस प्रकार सबमें तुमको आत्मस्वरूपका दर्शन होगा ।

(८५) तुम गरीब हो, तुम साधनहीन हो, तुम कुटुम्बहीन हो, तुम शक्तिहीन हो, तुम जगत्के पदार्थ बिनाके हो, तो इसके लिये शोक न करो । यदि तुममें परमात्माके प्रति प्रेम होगा, जगत्के भोगोंके प्रति वैराग्य होगा तो तुम सबकी अपेक्षा अधिक सुखी हो । जगत्के प्राणी-पदार्थ तुम्हारे चित्तको परमात्माकी ओरसे खींचकर चौरासी लाख योनिमें भरमानेवाले हैं । इसलिये यदि ये न होंगे तो तुम्हारा भगवत्प्राप्तिका मार्ग जल्दी कट जायगा ।

(८६) तुम बड़े भारी महलमें रहते होओगे; परंतु तुम शरीरके लिये जितनी जगहकी जरूरत है, उतनी ही जगहके भोक्ता हो । तुम्हारे यहाँ हजारों मन अनाज होगा, परंतु तुम जितना खाते हो उतनेके मालिक हो । तुम्हारे शरीरके लिये जितना जरूरी है, उससे अधिक तो दूसरोंके लिये है । तुम अधर्मसे धन पैदा करके इकट्ठा करते हो, वह धन दूसरेको मिलेगा और तुम्हारे भाग्यमें पाप भोगना रह जायगा । इसलिये भाई ! धनके लिये पाप न करो, पापसे पेट न भरो । तुम धीरज रक्खोगे तो विश्वम्भर भगवान् तुम्हारा पेट भरेंगे । धर्मका आधार धीरज है ।

(८७) धीरज धर्मको टिकाता है, धीरजसे धन सञ्चय होता है । धीरज दुःखको सहन कराता है । धीरज आपत्तिसे बाहर निकालता है । प्राणीमात्रका मित्र उसका धीरज है । जिसमें धीरज अधिक है, वह सबसे बड़ा है । धीरजके दो आधार हैं—एक आधार है साधन और दूसरा है समझ । बुद्धिमानी आत्मज्ञानका आधार है । यह धीरज चिरकालतक टिकना है और यही प्राणीका कल्याण करता है ।

(८८) खाना, पीना, पहनना और भोग भोगना तथा कुटुम्बका भरण-पोषण करना—क्या यही जीवनका हेतु है ? भोग तो कीड़ा भी भोगता है, कुत्ते-गधे भी भोगते हैं । इन्द्रके शय्यामें लोटनेमें और गधेके धूलमें लोटनेमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है । दोनोंको समान सुख है । राजा अपनी रानीसे विषय-भोग करता है और कुत्ता कुतियासे विषय-भोग करता है, इन दोनोंके सुखमें समानता है । भाई ! भोग तो तुमने अनेकों जन्मोंमें भोगे हैं । इस मनुष्य-जन्ममें समझ लो कि भोगमें सुख नहीं है । पहले जन्मोंमें अखण्ड और अमृत सुख न देखकर तुमने यह जन्म लिया है, इसलिये यहाँ उस सुखको खोजो जो सुख कभी नष्ट होता ही नहीं । जो सुख दूसरेसे मिलता है, वह उसमें विकार आनेपर या उसके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाता है । आत्मसुख ऐसा सुख है जो सदा अपने पास रहता है, कभी अलग नहीं होता और इसीसे वह अखण्ड है । प्राणी-पदार्थके सुखको छोड़े बिना तुम्हें आत्मसुख कभी नहीं मिलेगा ।

(८९) ईश्वरके नामका खूब जप करो । जीभसे जपो, मनसे जपो, जैसे हो सके वैसे ही जपो । इतना जप करो कि मन परवश होकर, सोते या जागते, जब अवकाश पावे तभी वही जप करने लगे । ऐसा करनेपर मनकी दौड़-धूप बंद हो जायगी । मनको परमात्माके सिवा दूसरी वस्तुमें चैन न मिलेगा । तुमसे तप न हो, त्याग न हो, यज्ञ न हो, दान न हो—ऐसी

स्थितिमें संसारमें अच्छा रास्ता यह है कि अपनेको भगवान्‌का जो नाम प्रिय लगे उस नामके जपका निश्चय कर ले और उसका खूब रटन करे तथा परमात्माका आश्रय ले ले। प्रत्येक दुःखको दूर करनेके लिये, मनके प्रत्येक दोषको हटानेके लिये, किसी भी वस्तुकी इच्छाकी पूर्तिके लिये अन्तर्यामी प्रभुसे प्रार्थना करे। प्रभुके साथ ही वाद-विवाद करे, उसीसे झगड़े और उसीके साथ आन्तरिक प्रीति रक्खे। उसे अपना सर्वस्व समझे। पक्की श्रद्धा रक्खे कि प्रभु ही जीवनमें सुख देनेवाला है और हमारा उद्धार करनेवाला है।

(९०) दूसरेकी आशा छोड़ दो, अभिमानको छोड़ दो, मैं अमुक हूँ इसे भूल जाओ और जो कुछ कर्तव्य प्राप्त हो, उसे मान-अभिमान छोड़कर शरीरसे करते जाओ। फिर देखना कि कितना आनन्द प्राप्त होता है। अभिमान और दूसरेकी आशा—ये दोनों आनन्दको खा जाते हैं। निष्कलङ्क और निर्दोष बालकके समान जीवन प्रतिक्षण आनन्दका अनुभव कराता है। सरलता, निष्पाप जीवन, निरभिमानता, सेवा, भाव, प्रेम, उमङ्ग और विनय—ये जिनमें हों, उनको सारा जगत् सुखमय लगता है।

(९१) पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार शरीरका पोषण होगा। कुटुम्बके लोगोंका पोषण भी उनका प्रारब्ध करता है और करेगा। इसलिये चिन्ता छोड़कर प्राप्त कर्मोंको करो और ईश्वरको भजो। तप, दान, ईश्वर-भजन, पुण्य आदिसे पूर्वजन्मके मन्द और मध्यम दर्जेके पापोंके फलरूपी दुःखोंका निवारण होता है; इसी प्रकार उनसे कुछ अंशमें इच्छित सुखकी प्राप्ति भी होती है। परंतु तुमने यदि जीवनके दिनोंको दुःख-निवारण और सुखकी प्राप्तिमें ही बिता डाला तो तुम्हारा जो जन्म-मरणका सदाका दुःख है, उसको दूर करनेका प्रयत्न कब करोगे? और मौत कब आकर खड़ी हो जायगी, इसे कौन कह सकता है? इसलिये प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखको भोगते रहो और जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय जो हरिभजन है, उसके साधनमें जुट जाओ। शरीर और कुटुम्बको प्रारब्धके ऊपर छोड़ देनेपर भी उद्यम तो छोड़ना ही नहीं है। वही त्याग शोभा देता है, जिसमें त्यागनेका भान नहीं रहता। इसलिये यथाशक्ति प्राप्त उद्यम करना और ईश्वर-भजनमें खूब तल्लीन होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(९२) ईश्वरका भजन कभी न छोड़ो। 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, मैं परमात्मस्वरूप हूँ'—इस प्रकार बाँचने, सुनने या जाननेसे ही ब्रह्मस्वरूप या परमात्मस्वरूप नहीं हुआ जा सकता। वस्तु जो है, वही रहती है। जबतक इच्छा है, जबतक भोगमें रुचि है, जबतक आशा है, तबतक यह वस्तु जीवरूपमें ही रहती है और जब इच्छामात्रका नाश हो जाता है और आत्मस्वरूपमें रमण करनेका अभ्यास करते-करते आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है, तब वही वस्तु ब्रह्मस्वरूप या परमात्मस्वरूप हो जाती है। भक्तिका फल ही ज्ञान है, भक्तिको छोड़नेसे ज्ञान नहीं फलता। इसलिये खूब भक्ति करो। भक्ति ज्ञानके रूपमें परिणत हो जाती है। जैसे फूल बढ़ता जाता है, वैसे फल बढ़ता जाता है; परंतु फूलको तोड़ डालो तो फलका बढ़ना रुक जायगा। उसी प्रकार भक्तिके बंद करनेपर ज्ञान अपने-आप ही बंद हो जाता है। इसलिये जबतक तुमको जगत्‌का भान होता है, जबतक जगत्‌के सुख-दुःखका अनुभव हो रहा है, तबतक हरिस्मरण करते ही रहो।

(९३) जगत्‌में धनवान् या श्रीमन्त जान पड़नेवाले लोगोंमें अधिकांश, लगभग सभी भिखारी होते हैं, उनके मनमें जो-जो इच्छाएँ होती हैं, वे सारी पूरी होतीं नहीं, और अपूर्ण इच्छाको पूरी करनेके लिये, जिनसे पूरी हो सकती हैं, उनसे भी माँगते रहते हैं। दूरसे … हुआ भिखारी, उसके पास जो वस्तु नहीं है, … ही माँगता है, और अपूर्ण इच्छावाला श्रीमन्त

अपनी अपूर्ण इच्छाको पूरी करनेके लिये पूरी करनेवालेके पास भीख माँग रहा है। दोनों भिखारियोंमें कोई भेद नहीं है। जो कभी भी इच्छा नहीं करता, वही श्रीमन्त है।-जिसको प्राप्तमें संतोष है और अप्राप्तकी इच्छा ही नहीं है, उसके सुख और आनन्दको बेचारा पामर भिखारी क्या जाने ? देवता, दानव, मनुष्य और दूसरे भी अप्राप्तके भिखारी हैं. संतोषी सदा सुखी है। जिसमें इच्छा नहीं है, वह सबसे श्रेष्ठ और सम्पूर्ण सुखका भोक्ता है। इसलिये इच्छा-त्यागका अभ्यास करो।

(९४) इच्छा क्यों करनी चाहिये ? प्रारब्ध शरीरको पोसता है, अतः शरीर और कुटुम्बके लिये इच्छा नहीं करनी चाहिये। आत्मा नित्य और मुक्त है। सुख, आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, 'वह आत्म-स्वरूप मैं हूँ।' जिसे ऐसा ज्ञान हो गया वह किस वस्तुकी इच्छा करेगा ? भोगकी भी इच्छा नहीं रही और नित्यमुक्तके लिये मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रही।

(९५) मुमुक्षुके लिये मुक्ति प्राप्त करनेके दो मार्ग हैं—एक ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग। जगत्‌के भोगोंके प्रति अत्यन्त वैराग्य हो और स्वात्माका अपरोक्ष ज्ञान हो गया हो, वह मैं आत्मा ही परमात्म-स्वरूप हूँ और जगत् मिथ्या तथा विनाशी है, इसका अभ्यास करके वासनाक्षय और मनोनाशके साधन करके मुक्तिका अनुभव करे। जिसमें वैराग्य नहीं है वह अनन्य भावसे परमात्माकी उपासना करे। जैसे-जैसे परमात्मामें प्रीति बढ़ेगी, वैसे-वैसे जगत्‌के भोगोंमें प्रीति घटेगी और धीरे-धीरे हृदयमें शान्ति आयेगी। उपासक-की भगवान् पूरी सहायता करते हैं। ज्ञानी ज्ञानके बलसे परमात्मस्वरूप होता है और भक्त भक्तिके बलसे परमात्मामें मिलकर परमात्मस्वरूप हो जाता है। दोनोंका अन्तिम लक्ष्यस्थान परमात्मा है। दोनोंके साधनमें जगत्‌के भोगोंकी ओर तो अत्यन्त अरुचि होनी चाहिये। इसके लिये भोगेच्छाका आत्यन्तिक अभाव दोनोंमें होना जरूरी है।

(९६) कुछ किये बिना शरीर नहीं रह सकता है। इसलिये तुम दान, पुण्य, जप, तप, तीर्थसेवन, यज्ञ तथा जो कुछ भी बन सके सत्कर्म करो, देवताओंकी आराधना करो; परंतु ये सारी क्रियाएँ करो परमपदकी प्राप्तिके लिये। देवताकी आराधना करते समय यह प्रार्थना करो कि 'हे प्रभु ! मुझे परमपदकी प्राप्ति हो।' जीवनमें जो कुछ शुभ कर्म करो वह आवागमनको दूर करने, अखण्ड आनन्दरूप मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये करो, जो तुम्हारा नित्यस्वरूप है।

(९७) अनेक शास्त्रोंके अनेक प्रकारसे कहे हुए ज्ञानको संक्षेपमें समझ लो और उसको आचरणमें लाओ, तुम जरूर सुखी होओगे।

१. बीती हुई बातका कभी शोक न करो।

२. जो आ पड़े उसे खूब शान्ति और धीरजसे विकाररहित होकर सहन करो।

३. अप्राप्तकी कभी इच्छा न करो।

ये तीन जिसमें हैं, वह सदा सुखी है।

(९८) त्याग बिना सुख नहीं, त्याग बिना शान्ति नहीं। सिर मुँड़ाने और कपड़ा रँग लेनेसे त्याग नहीं होता। जिसको इस संसार और परलोकके भोगोंकी अत्यन्त दुःखदायी दीखनेके कारण कभी इच्छा नहीं होती और जो प्राप्त भोगोंको—पुण्योंको समाप्त करनेकी दवाकी भाँति उनको भोगकर छुटकारा पा लेता है तथा जिसका वैराग्य अत्यन्त उत्कट है, वही त्यागी है।

(९९) दूसरेसे मिलनेवाला सुख अल्प है, क्षणिक है, पराधीन है और परिणाममें दुःखप्रद है। संसारके सुख इसी प्रकारके हैं। आत्मसुख महान् है, वह नित्य है, स्वाधीन है और सदा सुखरूप है।

इसलिये जगत्‌के सुखका स्वाद छोड़कर आत्मसुखके भोगी बनो । इसके स्वादका अनुभव करते ही जगत्‌के बड़े माने जानेवाले सुख भी दुःखरूप और तुच्छ लगेंगे ।

(१००) जगत्‌में अनेक प्रकारके दान हैं। साधनवाले उन-उन दानोंको करते हैं। उस दानसे जीवको कुछ समयके लिये सुख प्राप्त होता है। जीवको जो असली दुःख है, वह भवसागर यानी संसारमें जन्म-मरणका दुःख है। उस दुःखको दूर करनेके लिये जो सदुपदेश देता है, वह जीवके लिये सच्चे-से-सच्चा दान है। जो परमार्थके मार्गमें स्थित हैं, उन्हें चाहिये कि जीवके ऊपर दया करके उसे संसारसे हटाकर ईश्वरके मार्गमें लगावें, यह जीवपर बड़े-से-बड़ा उपकार है।

(१०१) इच्छाका त्याग करो, यह कहना सहज है, करना मुश्किल है। राज छोड़कर, घर-द्वार और परिवार छोड़कर वनमें जानेपर भी किसी-न-किसी रूपमें इच्छा सताती है। कञ्चन-कामिनीको छोड़नेवालोंको भी मान, ईर्ष्या और बड़ाई सताती है। इसलिये इच्छाको मनसे खोज-खोजकर तजो और आत्माराम बनो। जैसे-जैसे आत्मस्वरूपकी पहचान होगी, वैसे-वैसे इच्छाओंका त्याग होता जायगा। और जैसे-जैसे इच्छाओंका त्याग होगा, वैसे-वैसे स्वस्वरूपका ज्ञान होगा। इच्छा-त्यागका अच्छे-से-अच्छा साधन यह है कि शरीर कर्मानुसार जिस संयोग या स्थितिमें पड़े, उसीमें परम प्रेम और आनन्दपूर्वक रहे। हर हालतमें आनन्दमें रहे, यह इच्छा-त्यागकी निशानी है।

(१०२) भाई! मनसे पूछो कि तुम्हें कितनी इच्छाएँ हैं? उसको जो इच्छा सामने रखनी हो, रक्खे। पर इस एक शर्तपर कि उसके पूरी होनेके बाद तू दूसरी कोई इच्छा नहीं करेगा। इस बातको वह नहीं मानेगा, उसको तो इच्छित वस्तु प्राप्त हुई कि वह दूसरी इच्छाएँ करेगा ही। राजा हो या रंक, किसीको चाहे जितनी सामग्री प्राप्त हो, परंतु उसका मन इच्छा किये बिना नहीं रहता। अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करना उसका स्वभाव है। उसका विचित्र स्वभाव है। इच्छित वस्तु मिल गयी हो तो उसका सुख नहीं भोगता है, और जो नहीं मिली है तो उसकी इच्छा करता है और उसके दुःखका अनुभव करता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, दानव—सबके मनका यह स्वभाव है। इस मनके स्वभावके वश होकर कोई कैसे सुखी हो सकता है? इसको प्रसन्न करनेके लिये अनेक जन्म लिये। अब तो इसको यह सिखाओ कि जो प्राप्त हो उसका सुख भोगो और न प्राप्त हो उसकी इच्छा न करो। तभी अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती है।

(१०३) जगत्‌में अमुक विशेष काम करना है अथवा अमुक बनना है; इसकी इच्छा न करो। शरीरके प्रारब्धको शान्त-चित्तसे भोगो और नयी इच्छा खड़ी न करो। जगत्‌का भला करने, जगत्‌को सुधारने या देवलोकमें जाने अथवा सिद्धियोंकी प्राप्ति या इसी प्रकारकी कोई इच्छा करोगे तो जन्म-मरण बने रहेंगे और दुःखकी पोट सिरपर उठानी पड़ेगी। इस शरीरमें प्राप्त कर्मोंको आनन्दपूर्वक करो। ईश्वरको भजो, इच्छारहित बनो, शान्ति धारण करो और खूब आनन्दसे रहो। मान-बड़ाईकी इच्छा न करो। नेतागिरी न करो। बड़प्पन और नेतागिरीमें दूसरेका भार खींचना पड़ेगा। इसलिये अपनी शक्तिका विचार करके मनपर बोझ न पड़े, ऐसा काम करो। जैसे बने वैसे मनको स्वस्थ और शान्त रक्खो। मन ईश्वरको न भूले, ऐसा निर्दोष जीवन प्रेम और आनन्दसे बितानेका अभ्यास करो। हो सके उसे कर डालो, जो न होने योग्य हो, उसको भूल जाओ।

(१०४) जगत्‌में परमात्माकी माया दो है। एकसे ललचाता है और दूसरीसे मोह होता है। जिससे

मनमें हर्ष हो, वह माया है। जो आवे और जाय, वह माया है। जो हो और मिट जाय, वह माया है। मायाके पदार्थोंसे निर्लेप सम्बन्ध रक्खो, आ जाय तो रहने दो; जाय तो जाने दो; आवे तो हर्ष न करो; जाय तो शोक न करो। और जरूरतसे अधिक प्राप्त करनेके लिये मेहनत न करो। दान-पुण्य करनेके लिये भी जो अधर्मसे धन प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षा तो ऐसे अधर्मवाले धनका न प्राप्त करना अच्छा है। धर्मसे प्राप्त धन धर्ममें लगे तभी उसकी सार्थकता है। इसलिये जगत्के मायिक पदार्थोंकी परमात्माकी प्राप्ति करने और जीवनको चलाने मात्रके लिये ही इच्छा करो, और वे प्रारब्धके अनुसार धर्मसे प्राप्त हो जायँगे। जगत्के लिये अधर्म न करो और ईश्वरकी शरण कभी न छोड़ो। माया ईश्वरकी शक्ति है, परमात्माकी भक्तिसे मायाका मोह तुम्हें होगा ही नहीं। जिसको परमात्मामें प्रीति होती है उसमें मायाकी प्रीति घट जाती है और जिसको मायामें प्रीति होती है उसकी परमात्माकी ओर प्रीति कम होती है। परमात्माकी शरण संसारसे तारती है और निश्चय समझो कि वह तुम्हें तारेगी।

(१०५) तुम जो जप करो, दान-पुण्य करो, तप-तीर्थसेवन करो, जो कुछ भी सुकृत्य करो, उसके फल-रूपमें मुक्तिकी ही इच्छा करो। देवताको नमस्कार करो तो भी मुक्तिकी प्रार्थना करो। संत, साधु या वृद्धोंको प्रणाम करो तो भी मुक्तिकी इच्छा करो। जिस प्रकारसे मनमें शान्ति हो, जिस प्रकारसे मन आत्म-विचार करे, जिस प्रकारसे आत्माका अनुभव हो और जिस प्रकारसे मन परमात्मामें लीन रहे, अपने प्रत्येक सुकृतके फल, स्वरूप वैसी मानसिक अवस्थाकी कल्पना करो। फलकी इच्छा छोड़कर कर्म करो यानी भोगकी इच्छा छोड़कर कर्म करो। इस प्रकार भोगकी इच्छाका त्याग करनेके किये हुए कर्मका फल चित्तकी शान्ति, ज्ञान और मुक्ति ही होता है। प्रत्येक उपायसे इस दुःखरूपी संसारसे तरनेकी इच्छा करो। यह जगत् तो नाटक या सिनेमाके समान है, वास्तविक नहीं। देखनेमें चाहे जैसे वेश आवें, उसको सच्चा मानकर यदि उसमें घटाना-बढ़ाना या फेरफार करना चाहोगे तो पार्ट लेना पड़ेगा यानी जन्म-मरण लागू हो जायँगे। देखा करो, हँसा करो; भला-बुरा कहनेकी बुद्धिमानी बघारोगे तो फँसा ही समझो। परमात्माका खेल देखो, परमात्माको नमस्कार करो, परमात्माकी शरणमें जाओ और उसमें तल्लीन हो जाओ।

(१०६) जिस प्रकार लगाम हाथमें न रखनेसे मस्त घोड़ेपर सवार मनुष्य घोड़ेसहित दुःखमें जा पड़ता है, उसी प्रकार जिसके घरमें स्त्री, पुत्र और कुटुम्बी आदि सब बड़ोंके अङ्कुशमें नहीं रहते। वह सारा कुटुम्ब दुःखमें जा पड़ता है। सबको भयके बुरे रास्तेसे हटा-कर अच्छे रास्तेपर चढ़ाओ। शरीरका, इन्द्रियोंका और मनका स्वभाव ही भोग, आलस्य, अधर्म और हरिविमुखतापर है। उनको बलपूर्वक वहाँसे हटाकर परमात्मामें लगाओ। पति स्त्रीको, पिता पुत्र-पुत्रीको, गुरु शिष्यको, राजा प्रजाको, बड़ा अपने कुटुम्बी जनोंको, समझदार नासमझको बलपूर्वक भी अधर्मसे हटाकर धर्मके मार्गपर ले चले, यह पुण्यका काम है और सबका कर्तव्य है।

(१०७) मन जो करता है, वही किया हुआ समझा जाता है। इसलिये हम जब जो कुछ करें, तब मन उस काममें लगा रहे, दूसरे विचार न करे, उसे इस प्रकारकी शिक्षा दो। कुछ भी काम किया जाय, उसमें मन लगा रहेगा तो जल्दी सफलता मिलेगी। हम माला फेरते हैं तो मुँहसे जप होता है और हाथ-से मनका फिरते हैं। उस समय मन बेकार रहता है, उसपर ध्यान रक्खो, वह विचार करने लगे तो उसको रोको, माला बंद करके भी उसको रोको और उसे जपके सुननेका काम सौंप दो या उसीको जप करनेके

लिये कहो। संसारी काममें, विद्याभ्यासमें भी मन उसी काममें लगा रहे; इसका अभ्यास रखनेपर सब सरल हो जायगा। मनको निर्विचार अवस्थामें रखनेका अभ्यास करो। एक मिनट करके धीरे-धीरे अधिक समयतक मनको निर्विचार अवस्थामें रखनेसे अच्छी-से-अच्छी शान्तिका अनुभव होता है। मनको इस प्रकार शिक्षित करो कि जो तुम कहो वह करे, और तुम जो मना करो, वह न करे। यही सच्ची शिक्षा है और इस प्रकार वशमें किये हुए मनसे श्रेष्ठ सुखका अनुभव होता है। यह अभ्यास धीरे-धीरे करो, परंतु हमेशा करो। अवकाश मिलते ही यह अभ्यास करो; समयकी कमी नहीं है। अभ्यास होनेपर परिणाममें तुम्हें महान् सुख और शान्ति प्राप्त होगी। मनको वशमें करनेका आग्रह रखो और मन कहा न करे तो उसे दण्ड दो। जैसे तुमने ब्रह्मचर्यका नियम लिया हो और वह टूट जाय तो एक अखण्ड उपवास करो। नियम विचार कर लो, परंतु लेनेपर टूटे तो जरूर दण्ड दो। यह रीति बहुत अच्छी है। फिर जैसे हम व्रत लेते हैं कि अमुक दोष यानी झूठ बोलना नहीं छूटेगा तबतक मैं अमुक वस्तु न खाऊँगा, ऐसा कोई-न-कोई व्रत लेना चाहिये। इस प्रकार मनको वशमें करनेकी अनेक रीतियाँ हैं। जैसे भी हो मनको जगत्से हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१०८) भाई या बहिन! तुम चाहे जो हो, पर सादा भोजन, सादा कपड़ा, सरलता, सत्य, सदाचार, शान्ति, संतोष, सद् उद्यम, धीरज, दया, दम, दान और दीनताका सेवन करो। सत्सङ्गका सेवन करो, मोहका कोई काम न करो, खर्च कम करो, विचारकर बोलो, विचारकर चलो, देखकर पैर रखो, हिल-मिलकर रहो; परमात्माकी भक्ति करो, दम्भ मत करो, अभिमान न करो। व्यसन, सट्टे और जुएका सेवन कभी न करो। 'अहं ब्रह्मास्मि'की झूठी धुनमें भगवान्की भक्तिको न भूलो। भगवान्का आश्रय, उनका नामजप अन्ततक न छोड़ो। इस दुस्तर संसारसे भगवान्की दयाके बिना अपनी होशियारी, अपने ज्ञान और अपने बलसे पार पाना सम्भव नहीं है। इसके लिये खूब भक्ति करो, सद्गुणी बनो, अच्छी सङ्गत करो, अच्छी पुस्तकें पढ़ो। माता-पिता, गुरुजन और बड़ोंकी सेवा करो। उनको संतोष दो, उनको प्रणाम करो, उनका आशीर्वाद लो तो परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।

कुसंगसे हानि

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥
बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात्।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः॥

(महाभारत वनपर्व १। २८-२९)

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं; और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते। नीच पुरुषोंका साथ करनेसे बुद्धि नष्ट होती है, मध्यम श्रेणीके लोगोंका संग करनेसे वह मध्यम स्थितिमें रहती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके संगसे वह श्रेष्ठ बन जाती है।

धर्मात्मा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

[१]

बड़ी भारी कोठी है । ऊँची चहारदीवारीसे घिरी हुई कोठीके चारों ओर सुन्दर वाटिका है । छोटा-सा राजभवन कहें तो भी कोई हानि नहीं । कोठीसे सटकर चहारदीवारीके बाहर एक फूसकी पुरानी झोंपड़ी है । फूसकी टट्टियोंसे घिरी अनेक स्थानोंसे टूटी झोंपड़ी। कोठी जितनी स्वच्छ, जितनी विशाल, जितनी सजी हुई एवं वैभवसम्पन्न है, झोंपड़ी उतनी ही जीर्ण-शीर्ण, उतनी ही अपनेमें सिमटी-सिकुड़ी और उतनी ही कंगाल है । कोठी और झोंपड़ी—दोनों एक दूसरीसे सटी । इनका क्या मेल ? क्या सामञ्जस्य इनमें ? लेकिन सामञ्जस्य जो संसारमें है, यही है । हम हृदयमें और बाहर झोंपड़ीसे सटी हुई ही कोठी खड़ी करते हैं ।

नानुपहत्य भूतानि भोगाः सम्भवन्ति हि ।

झोंपड़ियोंको गिराकर ही कोठी बनी—जाने दीजिये इस बातको । यह तो होता ही है । ऐसा न करना हो तो कोठी बने ही नहीं । लेकिन यह कोठी कैसे और कब बनी, मैं यह नहीं कहने चला हूँ । मुझे तो इनकी कहानी कहनी है—इनमें रहनेवालोंकी कहानी । कोठी है और उससे सटी झोंपड़ी है । कोठीसे सटी झोंपड़ी होगी ही, उसके दम्भपर परिहास करती-सी; किंतु ये कोठी और झोंपड़ी कुछ भिन्न हैं । इनमें धर्मात्मा रहते हैं, दोनोंमें ही धर्मात्मा रहते हैं ।

कोठी है सेठजीकी । सेठजी, बाबूजी, महाराजजी, लालाजी, नेताजी, मिनिष्टरजी, मेम्बरजीको छोड़कर कोठी हो भी किसकी सकती है । अब उन सेठजीका नाम-धाम, पता-ठिकाना जानकर आप क्या करेंगे ? वे बड़े सज्जन हैं, बड़े उदार हैं, बड़े दानी हैं, बड़े भक्त हैं, बड़े धनी हैं, बड़े व्यापारी हैं, अर्थात् बड़े हैं! बड़े हैं!! बड़े हैं !!!

झोंपड़ी है भोलाकी । सम्मानसे कहना हो तो भोलाराम कह लीजिये । आप उसका विवरण जाननेकी इच्छा सहज ही नहीं करेंगे । वह कंगाल है, श्रमजीवी है, दुबला है, ठिगना है, धीरे-धीरे बोलता है, धीरे-धीरे चलता है । थोड़ेमें कहें तो वह छोटा है, छोटा है, छोटा है । अन्ततः उसकी झोंपड़ी भी तो छोटी ही है । उसके पास क्या मोटर है कि इधर-से-उधर सर्र-सर्र दौड़े उसपर चढ़कर ! उसके पास तो एक बुढ़िया घोड़ी भी नहीं ! सेठजी बोलते हैं तो कोठी गूँज उठती है; किंतु भोलाका शब्द तो उसकी झोंपड़ीमें भी पूरा सुनायी नहीं पड़ता । भोला यदि सेठजीकी भाँति एक बार भी जोरसे बोले तो कोई उसका सिर न फोड़ देगा तो झिड़क देगा जरूर ।

सेठजीके बनवाये तीर्थोंमें अनेकों मन्दिर हैं, धर्मशालाएँ हैं । स्कूल-पाठशालाएँ कई उनके व्ययपर चलती हैं और कई तीर्थोंमें अन्न-सत्र चलते हैं उनकी ओरसे। गरमीके दिनोंमे कितने प्याऊ सेठजी चलवाते हैं; यह संख्या सैकड़ोंमें है और जाड़ोंमें जिन साधु-ब्राह्मण एवं कंगालोंको वे वस्त्र तथा कम्बल दिलवाते हैं, उनकी संख्या तो कई सहस्र होगी । कोठीसे थोड़ी ही दूरपर सेठजीने अपने आराध्यका मन्दिर बनवाया है । कई लाखकी लागत लगी होगी। इतना सुन्दर, इतना विशाल, इतना सुसज्जित मन्दिर आसपास देखनेमें ही नहीं आता । दूर-दूरके यात्री मन्दिरमें दर्शन करते हैं । स्वयं सेठजी नित्य दो-तीन घंटे पूजा-पाठ करते हैं । कई

विद्वान् ब्राह्मण उनकी ओरसे जप या पाठ करते रहते हैं। नियमित रूपसे सेठजी कथा सुनते हैं। उनका दातव्य औषधालय चलता है और पर्वोंपर प्रायः वे किसी-न-किसी तीर्थकी यात्रा कर आते हैं। तीर्थमें दान-दक्षिणा तथा पूजनमें हजारों खर्च कर आते हैं सेठजी! ऐसा धर्मात्मा इस युगमें बहुत कम देखनेमें आता है।

भोला जब रोटी बना लेता है, प्रायः पड़ोसीकी गाय हुम्मा-हुम्मा करती आ जाती है उसकी झोंपड़ीमें। एक टुकड़ा रोटी भोला उसे देता है। गैयाने यह नियमित दक्षिणा बाँध ली है। एक कुतियाने कहीं पास ही बच्चे दिये हैं। दो-तीन पिल्लोंके साथ वह भी पूँछ हिलाती आ जाती है। बेचारी हड्डी-हड्डी हो गयी है भूखके मारे और उसपर ये पिल्ले। भोला भोजन करनेके पश्चात् एक टुकड़ा रोटी किसी प्रकार उसके लिये भी बचा रखता है। पासकी सड़कपर वहाँ आमके नीचे जो कोढ़ी बैठता है, रोटी तो सेठजीके क्षेत्रसे उसे कुछ डाँट-डपट सुननेके पश्चात् मिल ही जाती है; किंतु पानीका नल कहीं पासमें है नहीं। भोला उसके घड़ेमें सवेरे और शामको नियमसे एक घड़ा पानी डाल आता है। वह जो पीपलके नीचे नालेके प्रवाहमें पड़कर गोल-मटोल बना पत्थर रक्खा है, वही भोलाके शङ्करजी हैं। स्नानके बाद एक लोटा जल वह उनको चढ़ा देता है, यही उसकी पूजा है। वह तीर्थ करने जाय तो पेटको फीस कहाँसे मिले? यही क्या कम है कि शिवरात्रिको, वर्षमें एक बार वह चला जाता है गङ्गा-स्नान करने।

ये दो धर्मात्मा हैं। कोठीमें रहते हैं सेठजी और झोंपड़ीमें रहता है भोला। भोलामें साहस नहीं कि कोठीमें सेठजीके पास जाय और उनसे परिचय करे और सेठजीको कहाँ इतना अवकाश है कि अपनी इस विशाल कोठीके बाहर कोनेमें जो फूसकी ढेरी है, उस-पर ध्यान दें और सोचें कि उसमें भी कोई दो पैरका जन्तु रहता है। ये दोनों पड़ोसी हैं, पर हैं सर्वथा अपरिचित। आप सम्भवतः मुझे कोसेंगे कि मैं क्यों भोलाकी व्यर्थ चर्चा करता हूँ। वह धर्मात्मा है—उसका धर्म यदि उसीके समान अपरिचित है हमारी-आपकी दृष्टिमें तो उसका क्या दोष?

× × ×

[२]

अपने दोषोंका जरा भी न देखना और किसीके गुणमें भी दोष निकाल लेना संसारके प्राणियोंका कुछ स्वभाव हो गया है। वे सज्जन कहते हैं—'सेठजी दान-दक्षिणाका दम्भ तो बहुत करते हैं; किंतु उनके व्यापारमें धर्मादेकी जो रकम निकलती है, वह भी रोकड़-बहीमें जमा ही रहती है। यह मन्दिर कैसे बना, ये क्षेत्र कैसे चलते हैं, इनका कहीं कुछ हिसाब ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि ब्लैक (चोर-बाजारी) की जो नित्यकी आमदनी है, उसका एक अंश इस धर्मकर्ममें इसलिये लगाया जाता है कि वह आमदनी पच सके।'

ये दूसरे बाबाजी अपनेको बड़ा विचारक और सच्चा आलोचक मानते हैं। ये कहते हैं—'सेठजीके मन्दिर-को देखकर वही लोग प्रशंसा कर सकते हैं, जिन्होंने सेठजीकी कोठी भीतरसे नहीं देखी। सेठजीने अपने लिये जैसा मकान बनवाया है, मन्दिर उसकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। भगवान्‌के लिये जो वस्त्र एवं आभरण हैं, उससे अच्छे तो अपने लड़केके ब्याहमें सेठजीने नौकर-नौकरानियोंको उपहारमें दे दिये। यहाँ मन्दिरमें दो-तीन सामान्य सेवक हैं और इन सबका वेतन मिलकर भी सेठजीके एक निजी सेवकके वेतनके बराबर नहीं। भगवान्‌के भोगकी बात तो छोड़ दो। ये रोटियाँ सेठजीके यहाँ झाड़ू देनेवाले भी नहीं छुयेंगे।'

ये नेताजी हैं। ये सेठजीके ही किसी कारखानेमें किसी पदपर काम करते हैं। इनकी बात और भी

विलक्षण है । ये मजदूरोंको उपदेश दिया करते हैं कि 'काम कम-से-कम करना और पैसा ज्यादा-से-ज्यादा लेना ही बुद्धिमानी है । इन सेठोंसे जितना और जैसे भी वसूल किया जाय, सब जायज है । सामने अफसर आ जाय तो काम करना, नहीं तो आराम करना । और कहने-रोकनेपर उसीका दोष निकालकर लड़नेको तैयार हो जाना, उसे पूँजीपति या गरीबोंका शत्रु बताकर चिल्लाने लगना—ये ही तरीके हैं इन लोगोंपर विजय प्राप्त करनेके ।' ये व्याख्यानोंमें कहते हैं—'सेठजी मजदूरोंके पक्के शोषक हैं । दयाका नाम भी इनमें नहीं है । तनिक-सी भूलपर नौकरको निकाल देना यहाँ रोज-रोजकी घटना है । कितना कम वेतन दिया जाय और कितना कसके काम लिया जाय, यही सेठजीकी दृष्टिमें रहता है । काम करनेवाला भूखा है, थक गया है, दुखी है आदि बातोंकी ओर उनका स्वयं तो ध्यान जानेसे रहा, कोई इनकी चर्चा भी कर दे तो लाल हो उठते हैं ।'

ये पण्डितजी भी सेठजीसे संतुष्ट नहीं जान पड़ते। स्वयं चाहे अनुष्ठानके समय ऊँघते ही रहें पर इनका अभियोग है—'सेठजी लंबे अनुष्ठान भी पहलेसे बहुत थोड़ी दक्षिणा तै करके कराते हैं । पाठशालाओंमें अध्यापकोंको बहुत कम वेतन दिया जाता है । मन्दिरों और क्षेत्रोंमें सदा काट-कसर करते रहते हैं । धर्ममें भी मोल-भाव करते हैं और यदि किसीने विना तै किये पूजा-पाठ कर दिया, तब तो उसे इतनी कम दक्षिणा मिलती है कि वह कहीं मिट्टी खोदता तो उससे अधिक पाता ।'

संसारमें दोप देखनेवालोंकी, असूया—गुणमें भी दोप-की कल्पना करनेवालोंकी कमी नहीं है । कोई सेठजी-को कंजूस कहता है, कोई अनुदार बतलाते हैं; कोई निष्ठुर कहता है और कोई अश्रद्धालु । स्वयं रिश्वत लेनेवाले सरकारी कर्मचारी उन्हें चोरबाजारी आदिका दोष देते हैं तो दूसरे दलोंके नेता उन्हें शोषक कहते हैं ।

जहाँ दूसरोंको सेठजीके बहुत-से दोष दीखते हैं; वहीं सेठजीको भी दूसरोंसे संतोष नहीं है। सबसे अधिक तो वे इस झोंपड़ीसे असंतुष्ट हैं, जो उनकी विशाल कोठीसे सटी खड़ी है । इस कूड़ेके ढेरने उनकी कोठी-की शोभा ही बिगाड़ रक्खी है । उन्होंने अनेक बार अपने मुनीम-मैनेजरसे कहा, अनेक बार प्रयत्न कराये झोंपड़ीकी भूमि खरीदनेके लिये । उनके सेवकोंने बताया है कि इस झोंपड़ीमें एक बहुत बुरा आदमी रहता है । बुराई उसमें सबसे बड़ी यही है कि वह किसी दामपर भी अपनी झोंपड़ी बेचता ही नहीं । सेठजीने कभी नहीं देखा झोंपड़ीमें रहनेवाले उस गंदे जीवको । वे उसे देखना चाहते भी नहीं । वह घमंडी है, उजड्ड है, मूर्ख है—और जाने क्या-क्या है सेठजीके मनसे । वे उससे घृणा करते हैं । वह भला आदमी कैसे हो सकता है, जब कि एक औपधालय या पाठशाला बनानेके लिये अपनी सड़ी झोंपड़ी बेच नहीं देता ।

भोलाकी बात छोड़ दीजिये । वह तो पूरा भोला है । कुछ मजदूर नेताओंने उसे भड़कानेका प्रयत्न किया; कुछ दूसरे लोगोंने भी कारण-विशेषसे उसके कान भरे, उसे अनेक लोगोंने सेठजीके विरुद्ध बहुत कुछ बताया; किंतु ऐसे सब लोगोंका अनुभव है कि भोला पल्ले सिरेका मूर्ख और एकदम कायर है । उसमें साहस ही नहीं सेठके विरुद्ध मुख खोलनेका । कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उसे सेठसे अवश्य गुप-चुप अच्छी रकम मिलती है । भोला क्या कहता है, इसे कोई सुनना नहीं चाहता । वह कहता है—'सेठजी बड़े धर्मात्मा हैं । कमानेको तो सभी उलटे-सीधे कमाते हैं; परंतु अपनी कमाईमेंसे इस प्रकार और इतना दान-पुण्य भला कौन करता है । ऐसे धर्मात्माके पड़ोसमें मैं रहता हूँ, यही मेरे बड़े भाग्य हैं । सेठजी मेरी झोंपड़ी अच्छे

कामके लिये ही लेना चाहते हैं। इसमें उनका तो कोई स्वार्थ है नहीं। इतने बड़े आदमीका भला बित्ता-भर जमीनसे क्या बनता-बिगड़ता है। लेकिन मैं क्या करूँ? मेरे बाप-दादेकी यही तो झोंपड़ी है, मैं इसे कैसे बेच दूँ।'

भोला धर्मात्मा है—कुछ सीधे-सादे गरीब लोग कहते हैं। वह सड़कपर आमके नीचे पड़ा रहनेवाला कोढ़ी तो भोलाकी प्रशंसा करता थकता ही नहीं। सेठजी धर्मात्मा हैं, इसे कैसे कोई अस्वीकार कर देगा। यह बात तो सहस्रों व्यक्ति कहते हैं।

× × × ×

[३]

कभी-कभी बहुत उल्टी बात होती देखी जाती है। विशेषतः ये लँगोटीधारी फक्कड़ लोग ऐसी अटपटी बातें करते हैं कि साधारण व्यक्ति कुछ समझ ही नहीं पाता, उस दिन ऐसे ही एक फक्कड़ आ गये थे कहींसे घूमते हुए। खूब मोटे-ताजे बाबाजी थे। हो तो गये थे बूढ़े, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और बाल सब-के-सब चाँदी-जैसे हो गये थे; किंतु जब चलते थे, अच्छे-अच्छे साथ चलनेमें दौड़नेको विवश होते थे। पासमें एक हँड़िया थी और कमरमें एक लँगोटी। इतना ही बाबाजीका घर-परिवार, माल-असबाब सब था। उन जाड़ोंके दिनोंमें भी वे नंग-धड़ंग मस्त घूमते थे। यहाँ आकर सेठजीकी कोठीके पास वह जो पीपल है, उसके नीचे आसन लगाया उन्होंने। सेठजीको पता लगा होगा, वे एक महात्माको इस प्रकार सर्दी सहते देखकर बहुत बढ़िया कम्बल लेकर आये थे। बाबाजीने कम्बल उठाकर फेंक दिया और बिगड़े—'मैं पापकी कमाई नहीं खाया करता।' अब यह अटपटी बात नहीं तो क्या है? बेचारे सेठजी हाथ जोड़े खड़े रह गये। कोई दूसरा होता तो……लेकिन फक्कड़का कोई कर क्या लेगा?

बात यहीं रह जाती तो भी कुछ आश्चर्य न होता। सबको आश्चर्य तो तब हुआ, जब वहाँ भोला लगभग दौड़ता हुआ आया। वह भी साधु-संतोंका बड़ा भक्त है। दो मटमैले-से कई दिनके तोड़े हुए नन्हे-नन्हे अमरूद बाबाजीके पैरोंके पास रखकर वह भूमिमें पूरा ही लेट गया। बाबाजीने झटपट अमरूद उठा लिये और इस प्रकार उनका भोग लगाने लगे, जैसे कई दिनोंसे कुछ खाया ही न हो।

'भगत! बड़े मीठे हैं तेरे अमरूद!' वे मस्त हो रहे थे और इस प्रकार भोलासे बातें करने लगे थे, जैसे वहाँ और कोई हो ही नहीं। 'तू बड़ा धर्मात्मा है। आज मैं रातको यहीं रहना चाहता हूँ, मेरे लिये थोड़ा-सा पुआल ला दे तू।'

'महाराज! मेरे पास ताजा पुआल…………।' भोला बहुत संकुचित हो गया था, उस बेचारेके पास ताजा पुआल कहाँसे आवे। वह कोई किसान तो है नहीं। कहींसे कुछ पुआल ले भी आया होगा तो झोंपड़ीमें बिछाकर उसीपर सोता होगा।

'सेठजी! आप कष्ट न करें।' महात्माजीने सेठजी-को रोक दिया; क्योंकि वे एक सेवकको कोठीमेंसे पुआल ले आनेका आदेश दे रहे थे। सेठजीको मना करके वे भोलासे बोले—'तू जो पुआल बिछाता है, उसमेंसे ही दो मुट्ठी ले आ। देख, सब-का-सब उठा मत लाना।'

'यह कौन है?' सेठजीने अपने मुनीमसे, जो पास खड़ा था, पूछा।

'इसीकी झोंपड़ी है वह!' जैसे सेठजी आकाशसे भूमिपर गिरे। 'यह धर्मात्मा है?' वे मस्तक झुकाये बहुत देर सोचते रहे।

'तुम क्या सोचते हो?' संतने अब कृपा की उनपर। जो धर्मका सच्चा जिज्ञासु है, वह भूलें चाहे कितनी भी करे, अन्धकार कबतक अटकाये रख सकता है

उसे। संत कह रहे थे—'वह धर्मात्मा है या नहीं, इस बातको अभी छोड़ दो! तुम धर्मात्मा हो या नहीं—यही बात सोचो।'

'मुझसे जो बन पड़ता है, करनेका प्रयत्न करता हूँ।' सेठजीका अन्तर स्वच्छ था और वे वही कह रहे थे, जो उनकी सच्ची धारणा थी।

'यदि भोला तुम्हारे दस हजार रुपये चुरा ले····।' सेठजी चौंके और भोलाकी ओर देखने लगे। महात्माजीने कहा—'डरो मत! तुम्हारे रुपये सड़कपर भी पड़े हों तो वह छुएगा नहीं। मैं तो समझनेकी बात कह रहा हूँ कि यदि वह तुम्हारे दस हजार चुरा ले और उनमेंसे सौ रुपये दान कर दे तो वह दानी हो जायगा या नहीं?'

'चोरीके धनको दान करनेसे दानी कैसे होगा? वह तो चोर ही रहेगा।' सेठजीने भोलाकी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'वह सौ रुपयेका दान क्या कुछ फल नहीं देगा? क्या पकड़े जानेपर सरकार उसे दान करनेके कारण छोड़ेगी नहीं?' संतने बहुत भोलेपनसे पूछा।

'दान तो उसने किया ही कहाँ। दान तो मेरे रुपयेका हुआ, सो दानका कुछ पुण्य हो तो जिसका रुपया है, उसको होना चाहिये। सरकार भला क्यों छोड़ने लगी उसे।'

'अब सोचो—तुम जो धन दान करते हो, वह सब तुम्हारी ईमानदारीकी कमाईका है या झूठ, छल, कपट, धोखा देकर उसे प्राप्त किया गया है?'

'तो मेरा सब दान-धर्म·······!' सेठजी सहसा नहीं बोल पाये। वे कई क्षण चुप रहे और जब बोले—रुकते-रुकते वाक्य पूरा करते अटक गये। उनकी आँखोंसे टप-टप बूँदें गिरने लगी थीं।

'ऐसा नहीं!' महात्माकी वाणीमें बड़ा स्नेह और आश्वासन था—'चोरने जो रुपये चुराये हैं, उनपर अनुचित रीतिसे ही सही, पर उसका अधिकार तो हो ही गया है। वह उन रुपयोंको बुरे कर्मोंमें भी लगा सकता है और दान भी कर सकता है। इसलिये जब वह उनमेंसे कुछ दान करता है, तब दानका पुण्य तो उसे होता ही है; किंतु चोरीके पापसे दान करके वह छूट नहीं जाता। चोरीका दण्ड तो उसे भोगना ही पड़ेगा। अवश्य वह दूसरे दान न करनेवाले चोरोंसे श्रेष्ठ है। उसे दानका पुण्यफल भी अवश्य मिलेगा।'

'यह नन्हीं-सी सेवा··········।' सेठजी बहुत देर सिर झुकाये चुपचाप कुछ सोचते रहे। बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर अन्तमें अपने कम्बलको स्वीकार करनेकी पुनः प्रार्थना की उन्होंने।

'तुम्हारी वस्तु होती तो मैं अवश्य ले लेता।' महात्मा कुछ हँसते हुए-से बोले—'तुम्हारा हृदय पवित्र है भैया! भगवान् बड़े दयालु हैं। वे शरणागतके अपराध देखना ही नहीं जानते। वे क्षमा करेंगे और शक्ति देंगे। मैं यहाँ फिर आऊँगा और उस समय तुम मुझे अपनी वस्तु दे सकोगे।'

साधुओंकी इन उल्टी-सीधी बातोंको समझना कठिन ही है। सेठजीने क्या समझा, कुछ पता नहीं; किंतु उस कम्बलको लेकर वे महात्माके चरणोंमें प्रणाम करके कोठीमें लौट गये।

× × × ×

[४]

व्यापारी कहते हैं—'यह सेठ पक्का धूर्त है। इसने हमलोगोंका रुपया हड़प जानेके लिये दिवाला निकाला है। बहुत बड़ी रकम दबा ली है इसने।'

भिखारी कहते हैं—'यह महान् कृपण है। इसने चलते हुए क्षेत्र बंद करा दिये। भिखारियोंकी रोटी बंद करके धन बटोरनेमें लगा है।'

पंडे-पुजारी कहते हैं—'अब यह नास्तिक हो गया है। पर्वोंपर भी न तो कोई भेंट चढ़ाता और न कथा-वार्ता ही कराता है।'

सब लोग निन्दा करते हैं, सब असंतुष्ट हैं। सेठजीका दिवाला निकल गया है। वे अब एक छोटे-से भाड़ेके मकानमें पत्नीके साथ रहते हैं। दलाली करके किसी प्रकार पेट भर लेते हैं। न मोटरें हैं, न कोठी है। न सेवक हैं, न स्तुति करनेवाले हैं। मन्दिरोंमें जो धन पहले लगा दिया था, उसीसे वहाँ पूजाकी व्यवस्था चलती है। सेठजी अब यदा-कदा ही अपने मन्दिरोंमें जाते हैं। वे तो आजकल एक कम्बलकी पूजा करते हैं।

यह सब तो हुआ; पर सेठजी हैं बड़े ही प्रसन्न। इतना कष्ट-क्लेश, इतना अपमान-तिरस्कार, इतना उलट-फेर—जैसे कुछ हुआ ही नहीं। वे कहते हैं—'अब मुझे पता लगा कि सुख क्या होता है और कहाँ मिलता है? अबतक तो मैं अशान्त और दुखी ही था।'

आज फिर वे महात्माजी आये हैं। उसी पीपलके नीचे आसन लगाया है उन्होंने। आज भोला और सेठजी एक साथ आये। कहना यह चाहिये कि सेठजी भोलाको देखकर आये। एक बहुत घटिया कम्बल सेठजीने महात्माजीके चरणोंके पास धर दिया और भूमिपर मस्तक रक्खा।

'अब इस वर्ष जाड़ेभर मैं कम्बल ओढ़ूँगा।' महात्माजीने चटपट कम्बल उठाकर ओढ़ लिया।

'ये कृपा न करते तो मुझ-जैसेका उद्धार न होता, इनके पड़ोसके कारण ही मैं गिरकर सम्हल सका।' सेठजी भोलाके चरण छूने जा रहे थे।

'आप यह क्या कर रहे हैं? महात्मा हैं आप तो।' हक्का-बक्का-सा भोला पीछे हट गया।

वे संत दोनोंपर अनुग्रहकी वर्षा करते हुए मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे।

पश्चिमीय विचारधारामें ईश्वरका आकर्षण

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा, एम्० एल्० ए०)

काफी ठोकरें खानेके बाद संसारको, विशेषकर अति सभ्य तथा धनी राज्योंको फिरसे ईश्वर याद आ रहे हैं। केवल धनसे ही सुख तथा शान्ति नहीं मिलती। चित्तकी निर्मलता विचारोंकी निर्मलतापर निर्भर करती है। बिना विवेकके चित्त निर्मल नहीं रह सकता। विवेकका जनक है धर्म और ईश्वरका ज्ञान ही धर्म है।

विगत महायुद्धकी यातनाओंके बाद धनमदसे चूर पश्चिमीय समाज पुनः ईश्वरकी ओर मुड़ रहा है। आध्यात्मिकताका नशा-सा आ रहा है। आध्यात्मिकता-की प्रतिक्रिया भी होती है। संयुक्त राज्य अमेरिकामें कई लोग 'पैगम्बर' तथा 'ईश्वरके पुत्र' बनकर बैठ गये हैं और करोड़ों रुपये उनपर चढ़ाये जा रहे हैं। इस लेखमें हमको उस प्रकारके लोगोंका वर्णन नहीं करना है। हम यहाँ घोर बुद्धिवादियोंकी विचारधारामें परिवर्तन दिखलाना चाहते हैं।

कनाडामें वैंकूवर (Vancover) नामक स्थानमें अहिंसा-प्रचारके लिये एक संस्थाका निर्माण हुआ है। इस संस्थाने अपने चार मौलिक सिद्धान्त बनाये हैं, जिनमें पहला सिद्धान्त है अहिंसाको परम धर्म मानना तथा दूसरा सिद्धान्त है विश्वशान्तिके लिये प्रयत्न करना। इस संस्थाके चार मौलिक सिद्धान्त तथा मन्तव्य इस प्रकार हैं—

१. हमारे कार्यका प्रदर्शक-आधार होगा अहिंसा।

२. हम चारों ओर पूर्ण शान्ति तथा सुलह चाहते हैं।

३. हम चाहते हैं कि यह स्वीकार किया जाय कि वर्तमान आर्थिक प्रणाली निकम्मी साबित हो गयी है।

४. हम चाहते हैं कि ऐसी सरकार बने जो वर्तमान विधानसे ऊपर उठकर समाजकी सेवा तथा जनताकी स्वाधीनताकी रक्षाका कार्य करे।

संस्थाका कथन है कि आज संसारमें संकट इस कारण है कि हम मुनाफाखोरोंका मुनाफा गलत ढंगसे बाँटते हैं या बँटने देते हैं। जिनको पीसकर मुनाफा होता है, उन्हें कुछ नहीं मिलता; वर्तमान समयमें द्रव्यकी मर्यादा गलत है—भ्रमपूर्ण है। जबतक धनका महत्त्व कम न होगा, विश्वसंकट बना रहेगा। विज्ञानको भी अपने योग्य स्थान ग्रहण करना होगा। वर्तमान विज्ञान हमें जानकारी हासिल करा सकता है। पर विवेककी प्राप्ति केवल दार्शनिकतासे ही होगी। हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि हम सबके ऊपर भगवान् हैं।

आध्यात्मिक चिकित्सा

लोगोंकी समझमें यह बात आ गयी है कि सब बुराइयोंकी जड़ अपने भीतरकी आत्माको न पहचानना है। उसीका ज्ञान करा देनेसे अन्य सब विकार दूर हो जाते हैं। इसीके लिये आध्यात्मिक चिकित्साकी आवश्यकता होती है। ग्रेटब्रिटेनमें आध्यात्मिक चिकित्साके लिये कई केन्द्र खुल गये हैं। एक केन्द्रका नाम है ऐवलान हीलिंग सेन्टर (Healing centre) पैडिंगटन, लन्दनमें इसका कार्यालय है। श्रीपीटर लाइट फुट यहाँपर चिकित्साका काम करते हैं। दूसरा केन्द्र लारेंस हीलिंग सेन्टर विम्बल्डन, लन्दनमें है। लन्दनस्थित श्रीरामकृष्ण-वेदान्त-केन्द्र भी यही काम कर रहा है। पश्चिमी आस्ट्रेलियामें पर्थनामक स्थानमें कालविन अनविन यही कार्य कर रहे हैं। इन आध्यात्मिक केन्द्रोंका उद्देश्य है सत्यको कार्यरूपमें परिणत करना। सत्य क्या है? इसका विश्लेषण अभी हालमें श्रीडब्ल्यू० बी० कारलॉकने किया है। आप लिखते हैं कि 'यदि जीवनको सार्थक करना चाहते हो तो ईश्वरके अनुशासनका पालन करो। संसारसे सैनिक शक्ति समाप्त कर दो। विनाशक हथियारोंको नष्ट कर दो; लोगोंको कामभर जमीन दो; काम दो; पेट भरनेके लिये पशुवध बंद करो। महत्त्वाकाङ्क्षी तथा पदलोलुपोंके हाथमें शासन नहीं रहना चाहिये। केवल सेवाकी भावनासे काम करनेवालोंके हाथमें शासन-अधिकार होना चाहिये।'

शिकागोके लुई लालवाकेक लिखते हैं कि 'यह नर-तन केवल उस परम पिताकी प्रेरणाका परिणाम है। उसकी इच्छाओंकी अभिव्यक्तिके लिये है। सभी धर्म स्वीकार करते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापक है। परम-पिता अपना सब काम हमारे-तुम्हारे-जैसे निमित्तोंके द्वारा करता है।' इन लोगोंका यह भी कहना है कि ईश्वर नहीं चाहता कि पशुवध हो तथा लोग पेटके लिये पशुहत्या किया करें। इसीलिये पशुवध-निरोधक यानी निरामिष भोजियोंकी संस्थाएँ कायम होती जा रही हैं। ग्रेटब्रिटेनमें सरे नामक नगरमें निरामिषोंकी नवस्थापित संस्थाका नाम 'वेगन' सोसायटी है। लन्दनमें बकिंघम स्ट्रीटपर पशुरक्षा-समितिका प्रधान कार्यालय है। इसकी शाखाएँ देशभरमें खुल रही हैं। गत फरवरीमें डेवन नगरमें दक्षिणी-पश्चिमी शाखाका जन्म हुआ था। एक अन्ताराष्ट्रिय निरामिष-भोजी-संघ है, जिसके सभापति प्रो० डब्ल्यू० ए० शिब्लो हैं। इसकी अमेरिकन शाखाके अध्यक्ष हैं डा० जेस समर्सेर गेहमान। इसी संस्थाकी ओरसे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडामें प्रचार-कार्य करनेके लिये हैनवर्थ वाकर मईसे जुलाई महीनेतक इस वर्ष पर्यटन करेंगे तथा

भाषण देंगे । जापानमें शिनरी जिक्को काई नामक आध्यात्मिक संस्थाकी जन्मदाता श्रीमती चियोको हौंजो दया, स्नेह, प्रेम, भक्ति, ईश्वरमें निष्ठा, आत्मचिन्तन तथा सात्त्विक भोजनपर लेखमाला प्रकाशित कर रही हैं और इनको काफी समर्थन प्राप्त हो रहा है ।

विपत्तिकी जड़—धन

हम भारतीय यदि धनकी निन्दा करें तो उसका कोई महत्त्व नहीं होगा, इसलिये कि हम निर्धन हैं। अतएव अभाववाली वस्तुकी निन्दा कर अपना जी बहला रहे हैं । पर धनी देश भी इसकी बुराई समझ गये हैं । वैंकूवरकी, कनाडाकी संस्थाने अपने बयानमें कहा है कि 'उद्योग-धंधेका मुनाफा सम्पत्ति या धन नहीं है । प्रजाके सुखका साधन वास्तविक धन है, धनकी गलत व्याख्याने संसारको पीड़ित बना रक्खा है । धनीका धन एक दिन निर्धनका हो जायगा । आर्जेंटाइना-के भूतपूर्व राष्ट्रपति पीरोने एक बार कहा था कि 'संसारके और देश भूखे हैं । हमारे पास खाद्यसामग्री है, हम कबतक एक दूसरेका (भूखे तथा सम्पन्नका) मिल जाना रोक सकेंगे' उन्हींका कहना था कि धनकी दलाली करके पनपनेवालोंने शब्दोंका भ्रष्टाचार करके अपनेको बचा रक्खा है। आजकल मुनाफा, साख, बचत, बीमा, मिल्कियत, मूल्य, सम्पत्ति, कर, लागत, पूँजी आदि शब्दोंका अर्थ जिस प्रकार तोड़-मरोड़ कर किया जा रहा है, वही हमारी विपत्तिका कारण है ।

इसीलिये यार्कशायरके गिल टॉमस महोदय लिखते हैं कि 'जबतक संसारसे वित्त—धनकी सत्ता समाप्त न की जायगी, वह सुखी नहीं रह सकता । मुझे भूख लगी है, आपके पास भोजन है, मेरी भूख दूर करना आपका धर्म है । संसारके सभी देशोंकी जरूरियातोंका तखमीना बना लेना चाहिये । फिर उनको पूरा करनेके लिये हरेक देशके साधनसे काम लेना चाहिये । संसारकी असली मुद्रा थी—चीजोंका चीजोंमें अदल-बदल । स्वार्थी शासकोंने इस मुद्राको नष्ट कर दिया है ।' टॉमस पूछते हैं कि 'क्या आप शान्ति चाहते हैं ? तब मुद्रा नामक पापको समाप्त कर दीजिये ।' विनिमयके साधन प्राकृतिक होने चाहिये । रुपया, चाँदी, सोना यह सब मानवको गढ़ेमें ले जाता है । असली द्रव्य है स्नेह, परस्परकी आवश्यकताओंको वस्तु-विनिमयद्वारा पूरा करना । जहाँ विनिमयका साधन स्वर्ण आया, मानवका पतन प्रारम्भ हो गया । बर्ट टेलरके कथनानुसार आजके संसारमें धनकी मायाके कारण अपहरणकी भावना चारों ओर फैल गयी है । जो लोग संसारका कल्याण चाहते हैं, उनको धनकी महत्ताको नष्ट कर देना होगा ।

दक्षिण अफ्रिकाके राल्फ मौंटगोमरीने भी यही कहा है । मेक्सिकोकी महिला, लिलिथ लॉरेनने 'आश्चर्यकी मंदिरा' नामक अपनी पुस्तकमें हर बातमें विज्ञानकी शरण लेनेकी खिल्ली उड़ायी है । उनका कथन है कि 'विज्ञानके ऊपर परमात्मा है । वही सब कुछ कर्ता-धर्ता है । विज्ञानसे ऊपर बुद्धि है । जिसने बुद्धिसे काम नहीं लिया, वह विज्ञानसे लाभ नहीं उठा सकता ।' हेनरी जार्जने अभी हालमें अपने एक लेखमें कहा है कि 'यदि लोग अपने-परायेका भाव भूल जायँ तो संसारका बड़ा कल्याण होगा ।' विश्व-कल्याणकी भावना दक्षिण अफ्रिकातक पहुँच गयी है और वहाँ भी आध्यात्मिकता तथा विश्वबन्धुत्व सिखानेवाली भावनाओं-के प्रचारके लिये नाइगेरियाके पनेला नगरमें एक संस्था स्थापित हो गयी है ।

अनुचित सरकारी शासन

नयी विचारधारामें शासकवर्गकी भौतिकवादिताके प्रति बड़ा असंतोष है । लोग चाहते हैं कि नये शासक हों, नयी विचारधारा हो, ईश्वर तथा धर्मकी भावना रग-रेशेमें भरी हो । केवल कम्यूनिस्ट ही ऐसे हैं जो ईश्वरके पीछे डंडा लेकर घूम रहे हैं, या सूर्यपर

थूकनेका प्रयास कर रहे हैं अन्यथा ईश्वरका पुनर्जन्म हमारे विचारोंमें हो चुका है। कैलिफोर्नियाके डब्ल्यू० बी० कार्लेक लिखते हैं--

'जनसमूहको अधिकार-लोलुप, महत्त्वाकाङ्क्षी, धूर्त्त तथा बेईमान लोगोंने शासन अपने हाथमें करके मूर्ख बना रक्खा है--धोखा दे रक्खा है। ऐसी सरकारी बेईमानीको कायम रखनेके लिये मजबूत सेना रक्खी जाती है। यह सेना अपनी हिंसाद्वारा मानवकी स्वाधीनताका अपहरण कर लेती है। मानवको उस परम दयालु शक्तिसे विमुख करा देती है, जिसने हमें पैदा किया, जिसने मानवको इसलिये बनाया कि वह जीवनका पूरा सुख भोग सके तथा अपनी शक्तियोंका सदुपयोग कर सके।'

पर आजका शासनवर्ग सेवाके लिये नहीं, पद तथा अधिकारके लिये शासक बना है। पार्टियोंकी बाढ़ पद-लोलुपोंकी बाढ़ है, जीवनका आध्यात्मिक सुख छीन लेनेमें इसका प्रयास अधिक नहीं चल सकता। एक-न-एक दिन धर्म, सदाचार, कर्तव्य, परमात्माकी याद हमको स्वार्थी शासक-समूहसे छुटकारा पानेके लिये विवश करेगी। जीवनका सबसे बड़ा सुख है परमात्माका चिन्तन।

भारतका सदासे यही उपदेश रहा है और है। पश्चिम अपने धनकी चकाचौंधमें इसे भूल गया था, अब वह फिर रास्तेपर आ रहा है। कम्यूनिस्ट ज्यादा दिनतक नहीं टिक सकेंगे। अन्तमें परमात्माका सच्चा पुजारी ही विजयी होगा।

कुछ नहीं

(लेखक--श्रीआनन्दीप्रसादजी मिश्र 'निर्द्वन्द्व')

कमरेमें झाड़ और फानूस थे, आराम-कुर्सियाँ थीं, सजावटका सब सामान था, भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ थीं, जो ठीक ढंगसे सजी हुई थीं। आराम देनेवाले पलंग थे, जिनपर लेटते ही नींद आने लगती थी।

बाहर धूप थी, तेज चमकनेवाले सूर्यकी सीधी परंतु तेज किरणोंकी बहुत तेज रोशनी थी, जिसमें सुई-तक पड़ी हुई दूरसे दिखायी देती थी। इस तेज रोशनी-में सभी कार्य सुसम्पन्न हो रहे थे।

इस रोशनीमें एक मनुष्य दौड़ता हुआ कार्य कर रहा था। परंतु कार्य ऐसे थे कि समाप्त होनेमें न आते थे। केलेके पत्तेकी भाँति नये-से-नया काम आगे आ जाता था, जो उसको अवश्य करना ही पड़ता था। एक कामको पूर्ण करता हुआ सोचता कि अब इनकी समाप्ति होगी, परंतु एक पत्तेके उतरते ही दूसरा सामने मौजूद था।

वह सोचता था कि 'काम करते-करते--कड़ा परिश्रम करते-करते, थक गया हूँ--कोई आरामकी--चैनकी जगह मिले, तो तनिक नींद ले लूँ, जिससे कुछ आराम मिले और ग्लान मुख प्रफुल्लित हो जाय, थकावट दूर हो जाय।'

काम करनेवालेने कहा और चारों ओर देखा, परंतु इस प्रकाशमें भी उसे कोई चैनका स्थान न मिल सका।

पास बैठे हुए वृद्धने कहा--बेटा! कमरेके भीतर चले जाओ, वहाँ आरामकी सब वस्तुएँ हैं, खूब आनन्दसे लेटो, आराम करो, सो लो।

काम करनेवाला काम करता-करता झट उठा और दौड़ता हुआ कमरेके भीतर पहुँचा। एक सेकेंड कमरेके भीतर ठहरा, वहाँ उसे घुप्प अँधेरेके सिवा

कुछ भी दिखायी न दिया। वह तुरंत दौड़ता हुआ बाहर आया और कहने लगा—

'बाबा यह क्या ? हँसी मुझसे ही करनी थी ? वहाँ तो अँधेरेके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।'

वृद्ध बोला—'बेटा ! वहाँ तो सब कुछ है।'

युवक—'नहीं बाबा ! वहाँ अँधेरेके सिवा और कोई वस्तु दिखायी नहीं दी।'

वृद्ध—'कितनी देर ठहरे ?'

युवक—'खासी देर ठहरा हूँ, देखते ही बाहर चला आया।'

वृद्ध—'अच्छा, अब जाओ, वहाँ दस-पंद्रह मिनट ठहरो और फिर बतलाओ।'

काम करनेवाला फिर कमरेके भीतर पहुँचा। उसकी आँखोंमें चकाचौंध छायी हुई थी, कुछ दिखायी न दिया, परंतु दिल कड़ा करके थोड़ी देर ठहरा रहा। आँखों-को मला, उन्हें बंद किया और फिर मलते हुए खोला। अब कमरेके भीतरकी सब वस्तुएँ दिखायी देने लगीं। झाड़ भी, फानूस भी, आराम-कुर्सियाँ भी और पलंग भी। इन चीजोंको देखकर वह आरामसे पलंगपर लेट गया। सोकर उठा, तो उसने मुझे यह कहानी सुनायी। मैंने उससे कहा—

'तुम तो अपने जीवनमें प्रथम बार ही मूर्ख बने हो, परंतु क्या जानते नहीं कि हमलोग प्रतिदिन मूर्ख बनते हैं।'

उसने पूछा—कैसे ?

मैंने कहा—लोग दुनियाके धंधोंमें पड़े हुए भी कई बार ईश्वर-भक्ति करना चाहते हैं, उन्हें कहा जाता है कि सन्ध्या करो, पूजन करो। वे दुनियाके कार्य करते-करते झट-पट सन्ध्या-पूजन करने बैठ जाते हैं। परंतु उठकर कहते हैं कि 'वहाँ कुछ दिखायी न दिया, मन ठहरा ही नहीं, अँधेरा-ही-अँधेरा है, अजी घुप्प अँधेरा है।' ऐसी शिकायत करनेवाले सचमुच तुम्हारी तरहके ही लोग हैं, जो संसारके काम-धंधों और चमक-दमक, दिखावटी बातोंसे अंधे होते हैं। मनको सन्ध्या-पूजनके कमरेमें ले जाते हैं और एक मिनट ठहरकर फिर लौट आते हैं। आवश्यकता है कि वे भी दिल कड़ा करके ईश्वर-भक्तिमें ठहरे रहें और फिर देखें कि उनको कुछ दिखायी पड़ता है या नहीं ?

उसने कहा—ठीक है।

× × ×

साढ़े पाँचपर अलार्म लगा हुआ था, घड़ी बज उठी। आँख खुल गयी। ऐं ! आज यह क्या स्वप्न देखा।

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा,
जो सुना, अफसाना था।'

ऐसी रहनी रहिये

सबसों न्यारे सबके प्यारे ऐसी रहनी रहिये।
स्तुति अरु निंदा छोड़ पराई, जुगल जीभ जस गहिये॥
दुख-सुख हानि-लाभ सम वर्तन आनि परै सो सहिये।
भगवत चरन सरन गहि गोविंद मन वांछित सुख लहिये॥

—भगवतरसिकजी

मानसकी स्वप्न-कथाएँ

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)

श्रीरामचरितमानसमें तीन स्थलोंपर स्वप्न-कथाओंका वर्णन आया है। उनपर विचार करनेके पूर्व यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार गर्द जमे हुए धुँधले दर्पणमें किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार दुर्वासनायुक्त विकारी मनपर स्वप्न भी स्पष्टरूपमें अङ्कित नहीं होते। सच्चे, सरल और पवित्र भगवद्भक्तका मन शुद्ध और निर्मल होता है, इसलिये उसके मनपर सच्ची घटनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं।

पहली कथा भरतजीके स्वप्नकी है। भगवान् श्रीरामजीके साथ श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी अयोध्या छोड़कर वनवासको चले जाते हैं। उनके वियोगमें परिजन और पुरजन दीन, मलीन और व्याकुल हैं। दशरथ महाराज इस वियोगकी असहनीय पीडासे अपने प्राण त्याग करते हैं और तब समस्त अयोध्यापुरी भयानकतासे भरपूर हो जाती है। शत-शत कोसकी दूरीपर अपने ननिहालमें भरतजीके निर्मल मनपर अयोध्यामें हो रहे इस हाहाकारकी स्वप्निल छाया पड़े बिना नहीं रहती, जिसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजी इस प्रकार करते हैं—

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥
बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।
गुर अनुसासन श्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ॥

दूसरी कथा श्रीसीताजीके उस समयके स्वप्नकी है जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंका दर्शन करनेके निमित्त समाजसहित भरतजी अयोध्यासे पैदल चलकर चित्रकूटके पास पहुँचते हैं और तब श्रीसीताजी-सदृश आदर्श सती-साध्वीके शुद्ध सरल मनपर समस्त सत्य बातें स्वप्नस्वरूप होकर प्रतिबिम्बित होती हैं। अपने प्राणनाथ भगवान् श्रीरामजीको वे अपना स्वप्न ज्यों-का-त्यों सुना देती हैं; उनसे छिपाव कैसा ? यथा—

उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोचबस सोच बिमोचन॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने॥

तीसरी कथामें त्रिजटा राक्षसीके स्वप्नका वर्णन आता है। प्रसङ्ग ऐसा है—

श्रीसीताजीकी खोजमें हनुमान्‌जी लङ्का जाते हैं और विभीषणकी बतायी युक्तिके अनुसार अशोक-वाटिकामें पहुँचकर—

निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥

तब उसी अशोक वृक्षके पत्तोंमें छिपकर बैठ जाते हैं, जिसके नीचे श्रीसीता माता बैठी हैं। उसी समय रावण भी आता है और ऐड़ी-टेढ़ी बातें कहता है, जिनका मुँहतोड़ उत्तर श्रीसीताजीसे पाकर वह क्रोधोन्मत्त हो उठता है। यथा—

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनयाँ कहि नीति बुझावा॥
कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई॥
मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना॥

भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद।
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद॥

और तब त्रिजटा अपना स्वप्न इस प्रकार सुनाती है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका । राम चरन रति निपुन बिबेका ॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥
सपनें बानर लंका जारी । जातुधान सेना सब मारी ॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा । मुंडित सिर खंडित भुज बीसा ॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई । लंका मनहुँ बिभीषन पाई ॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई । तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं । जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥

जिस प्रकार लङ्कामें विभीषण, प्रहस्त, माल्यवंत आदि राक्षस भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें प्रेम करनेवाले मिलते हैं, उसी प्रकार वहाँ त्रिजटा राक्षसीका 'रामचरन रति' होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं ।

पहले भरतजी और सीताजीके स्वप्नोंपर विचार करना है । भरतजीके स्वप्न भयानक हैं, इसलिये जो कोटि भाँतिकी कल्पना वे करते हैं, सो स्वाभाविक ही है और सीताजीका स्वप्न अति स्पष्ट है; परंतु 'नीक' नहीं; साथ-साथ कठिन और अनचाहा—सुननेमें अप्रिय भी है । सीताजीके स्वप्नमें भरतजीकी ओरसे चिन्तित होनेकी कोई बात भी नहीं आयी है । हाँ, आगे चलकर—

एक आइ अस कहा बहोरी । सेन संग चतुरंग न थोरी ॥

और इसका तुरंत ही—

समाधान तब भा यह जाने । भरतु कहे महुँ साधु सयाने ॥

सीताजीके स्वप्नमें तो 'देखी सासु आन अनुहारी' सुनकर सोच-विमोचन प्रभु सोच-वश होते हैं; क्योंकि इसमें माताओंके अमङ्गलके अन्तर्गत पिताके अमङ्गलकी आशङ्का उठती है । अयोध्या छोड़ते समयसे श्रीरामजीको सब माताओंके और पिताके सुखका ध्यान सदैव बना रहा है । यथा—

गुरु वसिष्ठजीके द्वारपर वन-गमनके समय—

बारहिं बार जोरि जुग पानी । कहत रामु सब सन मृदु बानी ॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी । जेहि तें रहै भुआल सुखारी ॥

मातु सकल मोरे बिरहँ जेहिं न होहिं दुख दीन ।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रबीन ॥

फिर गङ्गातटपर सुमन्त्रजीसे कहते हैं—

पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि ।
चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि ॥
तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें । बिनती करउँ तात कर जोरें ॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें । दुख न पाव पितु सोच हमारें ॥

अयोध्या लौटनेपर सुमन्त्रजीने इस सँदेशको बड़े ही मार्मिक भावमें दशरथजीको सुनाया है । अस्तु, तब माता-पिताके अमङ्गलसूचक स्वप्नको सुनकर श्रीरामजीका सोचवश होना स्वाभाविक ही है ।

पृथ्वीपर सम्पूर्ण धर्मोंकी धुरीको धारण करनेवाले भरतजी और धर्म-मर्यादाकी रक्षा करनेवाले श्रीरामजी—इन स्वप्नोंके परिहारके लिये देवाधिदेव श्रीशंकरजीकी पूजा करते हैं । अन्तर केवल इतना है कि ननिहालमें कैकयनरेशके यहाँ समस्त सामग्री और सुविधाएँ प्राप्त होनेके कारण भरतजी 'बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना' दिन-प्रतिदिन ब्राह्मणोंको भोजन कराते तथा दान देते हैं और 'सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना' अनेक प्रकारसे शिवजीका अभिषेक करते हैं । परंतु सीताजी स्वप्न देखती हैं, चित्रकूट पर्वतपर उस रात्रिमें उनके आश्रमसे बहुत ही थोड़ी दूरीपर समाजसहित भरतजी डेरा डाले पड़े हैं । अतएव श्रीरामजी—

अस कहि बंधु समेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥

प्रातःस्नानके पश्चात् ही 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति' के अनुसार श्रीशंकरजीकी पूजा और साधुओंका सम्मान करते हैं । केवल इतना ही कर पाते हैं कि—

सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भए ।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गए ॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे ।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥

बस, भरत-आगमनके सब समाचार कोल-किरात आकर कहते हैं । आदि, आदि ।

इन दोनों स्वप्न-कथाओंसे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कभी भयावने अथवा माता-पिता, गुरु, भाई, बन्धुओंसे सम्बन्धित बुरे स्वप्न दिखायी पड़ें, तब साधारणतया सबको और विशेषकर धर्मानुरागी सज्जनोंको यथाशक्ति तथा समयानुसार शिव-अभिषेक, शंकर-पूजन, ब्राह्मण-भोजन, दान, भगवत्कथाओंका गान-श्रवण आदि उत्तम धार्मिक कार्योंको करके सबके कल्याणके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । जो हो गया सो अमिट है; परंतु लेखकका दृढ़ विश्वास है कि पूर्ण श्रद्धा और सरल भाव तथा भक्तिसे ये परम पवित्र धार्मिक कार्य किये जानेपर आनेवाले अमङ्गलका यदि पूर्णरूपसे परिहार न भी होगा तो कुछ अंशोंमें अवश्य ही कम हो जायगा, इसमें लेशमात्र संशय नहीं है । ऋषिवर नारदजीका वचन है कि—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें । लहिअ न कोटि जोग जप साधें ॥

वैसे श्रीशंकरजीकी नित्य पूजा करना मङ्गलदायक है ।

त्रिजटाका स्वप्न—भगवान् श्रीरामचरणानुरागी होनेके नाते त्रिजटा अपने स्वप्नको मङ्गलमय मानती है । श्रीसीताजीकी सेवा करके वह अपना भला तो करती ही है, साथ ही अन्य राक्षसियोंके हितकी बात भी कहती है, जिसे वे सब—भले ही डरसे हों, पर—मानती हैं और सीताजीके चरणोंमें गिर पड़ती हैं । जगज्जननी माता जानकीजीकी ऐसे समयमें सेवा करना एक सर्वोत्तम पूजा करना ही है, इसलिये अन्य प्रकारके पूजा-पाठका यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता ।

त्रिजटाके स्वप्नमें एक बात विशेष उल्लेखनीय है । श्रीसीताजीकी खोज करनेके लिये चलते समय हनुमान्-जीसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी इतना ही कहते हैं—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

और अपने निज नायकी आज्ञाका अक्षरशः पालन करनेका परिचय कराते हुए माता सीतासे हनुमान्जी कहते भी हैं—

अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई । प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई ॥

तब—

उलटि पलटि लंका सब जारी । कूदि परा पुनि सिंधु मझारी ॥

इत्यादि उत्पात लंकामें हनुमान्जीने क्यों मचाये ? ऐसी जो शंका उठायी जाती है, उसका सहजमें ही इस प्रकार समाधान हो जाता है—

त्रिजटा अपना स्वप्न सुना रही है और अशोक-वृक्षके पत्तोंकी आड़में छिपे हनुमान्जी सुन रहे हैं । सबसे पहले वह कहती है—

सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥

थोड़ा ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्नका ब्यौरा सुनानेके पूर्व वह इसपर जोर देती है कि सीताजीकी सेवा करके अपना हित करो । बस, इतना सुनते ही हनुमान्जीको यह समझनेमें देर नहीं लगती कि यह त्रिजटा राक्षसी मनसा, वाचा, कर्मणा श्रीरामचरणानुरागिणी है और इसका मन स्वच्छ, पवित्र और निर्मल है । अतएव इसका स्वप्न भी सत्य होना चाहिये । इसके पश्चात् वह कहती है—

'सपनें बानर लंका जारी' आदि, आदि ।

यह सब प्रभुकी प्रेरणासे इसके मनपर प्रतिबिम्बित हुआ है और तब हनुमान्जी ठीक ही निर्णय कर लेते हैं कि त्रिजटाके स्वप्नद्वारा प्रभुजी लंका जलानेकी आज्ञा उन्हें दे रहे हैं ।

त्रिजटाके स्वप्नान्तर्गत लंका जलानेकी प्रभु-आज्ञाके साथ एक और कारण उपस्थित हो जाता है । जगज्जननी माता सीताकी विरह-व्यथा देख-सुनकर हनुमान्जी व्याकुल हो जाते हैं । यथा—

निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन ।
परम दुखी भा पवन सुत देखि जानकी दीन ॥

× × ×

देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥

और—

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥

श्रीसीताजीके हृदय-विदारक विलापको सुनकर हनुमान्‌जीको सबसे बड़ी चिन्ता इस बातकी होती है कि उन्हें धीरज किस प्रकार बँधायें। इसी कारण वे बार-बार कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

× × ×

कह कपि हृदयँ धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥

× × ×

निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु॥

× × ×

कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥

हनुमान्‌जी अच्छी तरहसे जानते हैं कि वैसे तो भगवान् श्रीरामजी अपनी सेनासहित पलक मारते ही समुद्रके इस पार लंकामें आ सकते हैं; परंतु वे हैं मर्यादापुरुषोत्तम, इसलिये लौकिक मर्यादाका पालन अवश्य करेंगे और तब सम्भवतः कुछ विलम्ब हो जाय। अतएव माता सीताजीको धैर्य देनेके निमित्त त्रिजटाके स्वप्नके पहले अंशको तत्काल सत्य कर दिखाना वे अपना कर्तव्य मान लेते हैं और लंका जलानेकी युक्ति भी तुरंत निकाल लेते हैं—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥

और फिर लंका जलाकर चलते समय भी सीताजीको धीरज ही देते हैं। यथा—

जनक सुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह।
चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह॥

भरतजी और सीताजीके स्वप्नोंमें भूतकालकी घटनाएँ दृष्टिगत होती हैं और त्रिजटाका स्वप्न भविष्यका द्योतक है। भारतवर्षकी इस पुण्य-भूमिमें ऐसे संत-महात्मा होते आये हैं, जिन्होंने भूतकालकी गुप्त-से-गुप्त घटनाओंका रहस्योद्‌घाटन किया है और भविष्यके चित्रको साक्षात् देखा है। उनमेंसे एक हमारे गोस्वामी तुलसीदासजी भी हैं, जिन्होंने श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें इस कलियुगके धर्मका कुछ वर्णन किया है। यद्यपि आजसे लगभग पौने चार सौ वर्ष पूर्व, जब श्रीरामचरितमानस लिखा गया था, तब कलियुग ही था, तथापि जिन्होंने गत पचास-साठ वर्षके पहलेका जमाना देखा है, वे निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उस समय यह कलियुग धर्म उतना उग्र नहीं था, जितना आज दिन देखनेमें आ रहा है। वर्तमान लक्षणोंसे इसके प्रचण्ड रूप धारण करनेकी आशंका की जाती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने पाप और अवगुणोंके घर इस कलिकालमें गुण भी बताया है। यथा—

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥

और उससे उद्धार पानेके लिये सारांशमें उपाय भी बताया है—

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

× × ×

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

अतएव दृढ़ निष्ठा और अडिग विश्वासके साथ इस कलिकालमें भगवान् श्रीरामजीके गुणोंका निरन्तर गान करते रहनेसे मनुष्यमात्र निःसन्देह स्वप्नके दुष्परिणामोंसे मुक्त होकर अपना कल्याण करेगा और दूसरोंका कल्याण करनेमें सहायक भी होगा।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

महोदय ! आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । सर्वत्र और सब वस्तुओंमें भगवान् श्रीरामका स्मरण होना तो बड़े ही सौभाग्यकी बात है । इसमें पागलपनकी कोई बात नहीं है । ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌की परम दया समझकर साधकको अपने मनमें कृतज्ञताका भाव भरना चाहिये और भगवान्‌के प्रेममें निमग्न हो जाना चाहिये ।

(२) भगवान्‌से किसी प्रकारकी भी सांसारिक वस्तुका माँगना सकाम ही है । वह चाहे किसीके लिये भी क्यों न हो; क्योंकि भगवान् अन्तर्यामी हैं । वे जो कुछ करते हैं, उसीमें साधकका परम हित भरा हुआ है । यह पूर्ण विश्वास रखनेवाला साधक किसी प्रकारकी माँग भगवान्‌के सामने कैसे उपस्थित कर सकता है । भगवान्‌पर निर्भर रहनेवाले भक्तका सब प्रकारका ऋण समाप्त हो जाता है । उसके पितर तो कृतार्थ हो जाते हैं, फिर उनको वंशपरम्पराकी क्या जरूरत है ।

रही स्त्रीके आग्रहकी बात सो वह यदि मूर्खता या मोहवश आग्रह करती हो तो उसका कोई महत्त्व नहीं है । अतः भगवान्‌के गुण-प्रभावको जाननेवाले निष्कामी भक्तके द्वारा माँगना नहीं बनता; अर्थार्थी भक्त यदि माँगे तो कोई दोषकी बात नहीं है । दूसरोंसे माँगनेकी अपेक्षा भगवान्‌से विश्वासपूर्वक माँगना अच्छा है ।

(२)

महोदय ! प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका कार्ड मिला, समाचार मालूम हुए । 'सोऽहम्' मन्त्रके विषयमें पूछा सो यह मन्त्र वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माकी उपासनाके लिये अधिक उपयोगी है । इसका भाव यह है कि 'मैं वही हूँ' अर्थात् परब्रह्म परमात्मामें और जीवात्मामें जो भेद प्रतीत होता है, यह मायाकृत है, वास्तवमें नहीं ।

आपकी इच्छा यदि सगुण, साकार परमेश्वरका दर्शन करनेकी हो, तब तो जिस रूपका आप दर्शन करना चाहते हों, उसीके नामका जप करना आपके लिये अधिक लाभप्रद होगा ।

आपने जो श्लोक लिखा, उसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—'जो चराचरमें व्याप्त है तथा चलना आदि क्रियासे रहित है, अज्ञानरूप अन्धकारका नाश करनेवाला तथा ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय है, उस समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमात्मारूप हंसको मैं नमस्कार करता हूँ ।'

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला, समाचार मालूम हुए । आपने अपना परिचय देते हुए यह लिखा कि मैं हिंदी अच्छी तरह नहीं जानता सो कोई बात नहीं । आप जैसी हिंदी लिखते हैं, उसीसे हम समझ लेंगे । हमें इसमें कोई तकलीफ नहीं है ।

आप 'कल्याण' के ग्राहक हैं—सो बड़ी अच्छी बात है । इसमें हमारी कृपाकी कोई बात नहीं है । इसमें तो आपके ही प्रेमकी बहुलता है ।

आपने लिखा कि 'मेरा मन वशमें नहीं है तथा एक-दो घंटे जब रामनाम लेता हूँ, तब मन निर्मल रहता है ।' रामनामकी महिमा अपार है । उसके महत्त्वको समझानेके लिये जो कुछ भी कहा जाय, वह थोड़ा ही है । हरेक प्रकारकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये रामनाम सर्वोपरि साधन है । अतः आपको निरन्तर रामनाम याद रखनेका अभ्यास करना चाहिये । यह अभ्यास भगवान्‌की कृपासे शीघ्र ही हो सकता है ।

आपकी यह चाह कि 'मेरा मन हरदम रामनाममें रमा रहे, मेरे अंदर रामभक्ति और रामप्रेमकी ज्वाला जलती रहे, वह इतनी बढ़े कि उसमें मैं अपनेको खो बैठूँ' बहुत ही उत्तम है । इसके लिये मेरी या और

किसी दूसरेकी सहायता आवश्यक नहीं है; इस चाहमें ही अतुलित बल है । अतः आप इस चाहको प्रबल कीजिये और दृढ़ विश्वास कीजिये कि 'भगवान् मेरे हैं और मैं उनका हूँ, अतः मेरी इस चाहको वे अवश्य पूरी करेंगे ।' जबतक यह पूरी न हो, तबतक हर वक्त प्रतीक्षा करनी चाहिये ।

आपने मेरे विषयमें लिखा, सो यह आपकी भावना है । मैं तो अपनेको एक साधारण मनुष्य समझता हूँ । रामसे अधिक तो क्या, मैं तो किञ्चिन्मात्र भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता । जिन रामभक्तोंको तुलसीदासजीने रामसे अधिक बतलाया है, ऐसे राम-भक्तोंको मेरा बार-बार प्रणाम है ।

राम-मिलनकी राहमें भटकनेवालेको भगवान् श्रीराम स्वयं हरेक प्रकारसे मदद करनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं । वे स्वयं उसे किसी-न-किसी बहानेसे रास्ता बताते रहते हैं । अतः इसके लिये निश्चिन्त होकर आप उनके भजन-ध्यानमें लगे रहिये ।

(४)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) शास्त्रोंमें मुक्तिके कई प्रकार माने गये हैं । जीव ब्रह्मलोकमें जाता है, वह तो कल्पके आदिमें पुनः जन्म लेता है; परंतु सायुज्य-मुक्ति और ब्रह्मलीन मुक्तिको प्राप्त हुआ पुरुष वापस नहीं आता, उसका पुनरावर्तन नहीं होता ।

आपने जो सब जीवोंकी मुक्ति होनेसे सृष्टिका अभाव होनेकी शङ्काके विषयमें पूछा, सो जीव परिमित नहीं हैं । ईश्वर सर्वज्ञ हैं और सम्पूर्ण जगत् उन्हींके अन्तर्गत है तथापि जीव उनके संकल्पमें अनन्त, असंख्य और अनादि हैं । अतः उनकी समाप्ति कभी नहीं होती । इतनेपर भी यह रहस्य किसीकी समझमें न आवे और वह यह माने कि कभी-न-कभी सब जीवोंकी समाप्ति होना सम्भव है तो भी कोई हानि नहीं है । सब जीव इस संकटसे सदाके लिये छूट जायँ तो अच्छा ही है । कोई बुरी बात नहीं है । पुनरावर्तन मान लेनेसे तो मुक्ति भी स्वर्गकी भाँति अनित्य और अल्प ही हुई, उसका कोई महत्त्व ही नहीं रहा ।

(२) सांख्यसिद्धान्तके अनुसार प्रकृति परिणामशील अवश्य है; परंतु वह सर्वथा निरवयव नहीं है । वह साम्यावस्थामें अवयवरहित और परिणतरूपमें अवयवसहित भी है । अतः सांख्यशास्त्रमें उसके दोनों ही रूप माने गये हैं ।

प्रकृतिमें परिणाम दो प्रकारसे होता है । एक तो कारणका कार्यरूपमें परिणत होना और दूसरा कार्यसे कारणरूपमें परिणत होना । ये दोनों प्रकारके ही परिणाम प्रकृतिमें निरन्तर चलते रहते हैं । देश और काल प्रकृतिसे भिन्न नहीं हैं, प्रकृतिके ही अंश हैं । अतः वह देश और कालमें भी व्याप्त है । अतः उसकी सूक्ष्मता और व्यापकता देश-कालकी अपेक्षासे बाधित नहीं होती ।

(३) तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है—इसका मतलब यह है कि जिस समय तीनों गुण मूल प्रकृतिमें विलीन रहते हैं, इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती, वह गुणोंकी साम्यावस्था है । और जब भगवान्‌के संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ होकर तीनों गुण अभिव्यक्त हो जाते हैं, वह उनकी विषम अवस्था है । गुणोंका साम्यावस्थासे विषम अवस्थाको प्राप्त होना और विषम अवस्थासे साम्यावस्थाको प्राप्त होना—इन दोनों प्रकारके परिवर्तनोंका ही नाम परिणाम है और यह उनका स्वभाव है एवं दोनोंमेंसे एक परिणाम बराबर होता रहता है ।

(४) अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्तमें भी अनेक भेद हैं । कोई अजातवाद मानते हैं, कोई बिम्बवाद मानते हैं, कोई परिणामवाद मानते हैं—इत्यादि । यह विषय बहुत लम्बा है, पत्रद्वारा लिखकर समझाना सम्भव नहीं; इस विषयका

शास्त्रोंमें अध्ययन करनेपर कुछ समझमें आ सकता है।

इस प्रकारके मत-मतान्तरोंकी शङ्काओंका समाधान तर्कसे होना कठिन है। किसी एक मतपर विश्वास करके जब मनुष्य उसके अनुसार साधनपरायण हो जाता है, तब वह वहाँ पहुँच सकता है, जहाँ जाकर सब मत एक हो जाते हैं और सब शङ्काओंका समूल नाश हो जाता है; क्योंकि सभी मतवादियोंका उद्देश्य जीवको ऊँची-से-ऊँची स्थिति प्राप्त करा देना है।

(५)

मान्यवर महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था, अवकाश कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ।

आपने भगवान्‌की भक्ति और उनके प्रेमकी महिमा लिखी और ज्ञान तथा कर्मको उसका साधन बतलाया, सो ठीक है; परंतु जिस पराभक्ति और अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌को मनुष्य तत्त्वसे जानता है और जानकर उनमें प्रविष्ट होता है, वह ज्ञान तो उस पराभक्तिका भी फल है (गीता १८। ५४-५५)। इस ज्ञानकी ही बड़ाई भगवान्‌ने गीतामें चौथे अध्यायके ३८ वें श्लोकमें की है तथा वहाँपर कर्मयोगको उसका स्वतन्त्र साधन बताया है एवं उसके पहले ज्ञानयोगको भी उसका साधन बताया है। आप अपनी मान्यताके अनुसार जैसा मानते हैं, वैसा ही आपके लिये ठीक है; परंतु गीतासे सभी प्रकारकी मान्यताओंको बल मिल सकता है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग मुक्तिके स्वतन्त्र साधन नहीं हैं—ऐसा मैं नहीं मानता।

तेरहवें अध्यायके २४ वें श्लोकमें कहीं भी 'उपासते' शब्द नहीं आया है। २५ वें श्लोकमें आया है, सो सर्वथा उचित है; क्योंकि श्रवणके अनुसार साधनकी आवश्यकता है तथा 'उपासते' शब्दका अर्थ भक्ति या प्रेम नहीं है। जिसके साथ उसका प्रयोग होगा, उसी साधनके अभ्यासका नाम वहाँ 'उपासते' होगा।

आप यदि भगवत्प्राप्ति या मुक्तिको ही भक्ति मानते हों तो वह तो सब साधनोंका फल है ही; फिर उसके विषयमें अधिक समालोचनाकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीतुलसीदासजी भक्त थे; वे तो मुक्तिका भी निरादर करके भक्तिको प्रधानता देनेवाले थे। अतः वे भक्तिकी जितनी भी प्रशंसा करें, वह थोड़ी ही है; परंतु जहाँ उन्होंने मुक्तिके साधनोंका वर्णन किया है, वहाँ ज्ञानको भी भक्तिके समान ही मुक्तिका स्वतन्त्र साधन माना है, यह सुनिश्चित बात है। 'ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥'—इससे यह बात स्पष्ट है। जहाँ उन्होंने यह लिखा है कि 'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल'—वहाँ उनकी मान्यताके अनुसार ज्ञानयोगका आत्मस्वरूप-चिन्तनरूप निदिध्यासन भी भजन ही है—ऐसा समझना चाहिये।

(२) गीताके बारहवें अध्यायके १२ वें श्लोकका अर्थ मैं जैसा समझता हूँ, उसका विस्तार मैंने तत्त्वविवेचनी टीकामें किया है; वहाँ देखना चाहिये। मेरी यह मान्यता नहीं है कि कर्मयोगीमें भक्ति नहीं रहती। मैंने यह तो पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि किसी कर्मयोगीके साधनमें भक्तिकी प्रधानता रहती है और किसीके साधनमें भक्ति गौणरूपसे रहती है। जिसमें भक्ति और प्रेमकी प्रधानता है, वह भक्तियोग है; जिसमें निष्काम-भावकी प्रधानता है, वह कर्मयोग है। दोनों ही मुक्तिके साधन हैं। गीतामें दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तितक कर्मयोगका वर्णन है। वहाँ आप ध्यानपूर्वक देखिये, भक्तिको प्रधानता नहीं दी गयी है।

आपने भगवद्भक्तके विषयमें लिखा कि वह मुक्तिको भी लात मार देता है, अतः उसके समान त्यागी दूसरा कौन होगा सो बिल्कुल ठीक है। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि भक्तिके साधनमें भी निष्कामभावका महत्त्व है, सकाम भक्तिकी अपेक्षा निष्काम भक्तिका दर्जा बहुत ऊँचा है। यही बात गीता जगह-जगह सिखाती है। मैं तो कर्मयोगमें निष्कामभावको ही महत्त्व देता

हूँ, न कि क्रियाको । वैसे तो भगवान्‌का भजन भी तो कर्म ही है; क्योंकि बिना क्रियाके तो कोई भी साधन नहीं होता, इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि सभी यज्ञोंको तुम कर्मजन्य समझो (गीता ४ । ३२) । अतः भक्ति भी कर्मयोगसे अलग नहीं है ।

मैंने कहीं भी कर्मोंको मुक्तिका साधन नहीं बताया है, कर्मयोगको मुक्तिका साधन बताया है । जिस ज्ञानको कर्मयोगका फल बताया है, वह ज्ञानयोग नहीं है, वह तो ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—इन तीनोंका फल है, जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है,—कुछ भी करना शेष नहीं रहता ।

आपके मतानुसार यदि भक्तिका अर्थ 'सेवा' और ज्ञानका अर्थ 'जानना' ही मान लिया जाय तो फिर भगवान्‌ने जो यह कहा है कि 'भक्त्या मामभिजानाति'—यहाँ पहले जानकर पीछे भक्ति करनेकी बात न कहकर भक्तिसे भगवद्‌ज्ञान होनेकी बात कैसे कही गयी—यह विचारणीय है ।

मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य-जन्मके बाद दूसरा जन्म नहीं होता । अज्ञानी मनुष्योंने न जाने कितनी बार पहले मनुष्य-शरीर पाया होगा । जब योगभ्रष्टका भी पुनर्जन्म होता है, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है । मेरा कहना तो यह है कि ज्ञानीका कर्मवश पुनर्जन्म नहीं होता है, यदि होता है तो वह ज्ञानी नहीं है ।

(६)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपके कार्ड यथासमय मिल गये थे । समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीता-अमृतको सञ्जयने श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे पायी हुई दिव्य दृष्टिके द्वारा देखा और सुना था तथा उसीके अनुसार उन्होंने धृतराष्ट्रको सुनाया था, यह बात गीतासे ही स्पष्ट हो जाती है। सञ्जय जिस समय जहाँ रहता था, वहींसे सब बातें सुनने-समझनेकी और सब घटनाओंको देख सकनेकी सामर्थ्य उसे मिल चुकी थी ।

(२) महाभारत और गीताकी श्लोकबद्ध रचना युद्धकालमें नहीं हुई थी, उसके बादमें हुई थी, यह महाभारतमें ही स्पष्ट लिखा हुआ है । भगवान्‌ने यह दिव्य उपदेश अर्जुनको सब-का-सब श्लोकबद्ध ही कहा था या सञ्जयने भी धृतराष्ट्रको श्लोकबद्ध सुनाया था—ऐसी बात नहीं है । उस समय तो बातचीतके ढंगसे ही सारी बातें हुई थीं, उसीमें कहीं-कहीं ज्यों-के-त्यों श्लोक भी बोले गये होंगे । इस समय हमें जिस आकारमें गीता प्राप्त है, यह तो निस्सन्देह श्रीवेदव्यासजीकी ही रचना है ।

(३) भगवान्‌ने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया था, वह अपने शरीरके अंदर ही दिखाया था । जो विश्व हमें अपने इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष हो रहा है, इसीको भगवान्‌ने अपना रूप बताया हो, ऐसी बात नहीं है । यह बात एकादश अध्यायमें स्वयं भगवान्‌के ही वचनोंसे स्पष्ट हो जाती है । वह रूप साढ़े तीन हाथके शरीरमें भगवान्‌की इच्छासे दिखलायी दे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । जब छोटी-सी दूरबीनके अंदर बड़े-बड़े दृश्य साधारण लोग दिखला सकते हैं, तब फिर भगवान्‌के लिये तो कोई भी बात असम्भव है ही नहीं । भगवान्‌के उस विश्वरूपके दर्शन अर्जुन और सञ्जयके अतिरिक्त अन्य किसीको नहीं हुए, यह भी गीताके ही वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है । अर्जुनको दिव्य दृष्टि भगवान्‌की कृपासे मिली थी, अर्जुन इसी जगत्‌में भगवान् श्रीकृष्णके पास रथमें बैठा था । उसने औरोंकी भाँति अपना स्वरूप भी भगवान्‌के शरीरमें देखा या नहीं, इसका वर्णन गीतामें नहीं आता । भागवतमें जहाँ माता यशोदाको विश्वरूप दिखानेकी बात आयी है, वहाँ तो यशोदाने अपना रूप भी भगवान्‌के मुखमें देखा—ऐसी बात आयी है ।

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१–**श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी**–'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिन्दी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ४)

२–**श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य**–[हिन्दी-अनुवादसहित] इसमें मूल, श्लोक, भाष्य, हिन्दीमें भावार्थ, टिप्पणी तथा शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २।।)

३–**श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य**–[हिन्दी-अनुवादसहित] डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य २।।)

४–**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, मूल्य १।)

५–**श्रीमद्भगवद्गीता**–[मझली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० ४ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरे-पर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अ० ।।≈), सजि० १)

६–**श्रीमद्भगवद्गीता**–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), सजि० ।।।=)

७–**श्रीमद्भगवद्गीता**–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ।–), सजिल्द ।।–)

८–**श्रीमद्भगवद्गीता**–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य ।)

९–**श्रीपञ्चरत्न-गीता**–सचित्र, इसमें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति, श्रीगजेन्द्रमोक्षके मूल पाठ हैं। गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य ≈)

१०–**श्रीमद्भगवद्गीता**–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द =)।। सजि० ।)।।

११–**श्रीमद्भगवद्गीता**–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य –)।।

१२–**ईशावास्योपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ≈)

१३–**केनोपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ।।)

१४–**कठोपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ।।–)

१५–**प्रश्नोपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य ।≈)

१६–**मुण्डकोपनिषद्**–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य ।≈)

१७–**ऐतरेयोपनिषद्**–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य ।=)

१८–**वेदान्त-दर्शन**–हिन्दी-व्याख्यासहित, आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ४१६, भगवान् वेदव्यासका सुन्दर तिरंगा चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २)

१९–**लघुसिद्धान्तकौमुदी**–सटिप्पण—संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये विशेष उपयोगी, मूल्य ।।।)

२०–**श्रीमद्भागवतमहापुराण**–(दो खण्डोंमें), सरल हिन्दी-व्याख्यासहित, पृष्ठ २०३२, चित्र तिरंगे २५, सुनहरा १, मोटा कागज, हाथ करघेके कपड़ेकी जिल्द, मूल्य १५)

२१–**श्रीभागवत-सुधा-सागर**–[नयी पुस्तक] सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र तिरंगे २५, सुनहरा १, सजिल्द, मूल्य ८।।)

२२–**श्रीमद्भागवतमहापुराण**–[नयी पुस्तक] मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य ६)

२३–**श्रीप्रेम-सुधा-सागर**–[नयी पुस्तक] श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र तिरंगे १४, सुनहरा १, सजिल्द, मूल्य ३।।)

२४–**श्रीमद्भागवतमहापुराण**–मूल-गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ३)

२५–**अध्यात्मरामायण**–हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३)

*२६-**श्रीरामचरितमानस**-मोटा टाइप, भावटीकासहित, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य ७॥)
२७- ,, -बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य ४)
२८- ,, -मूल, मोटा टाइप, पाठभेदवाली, सचित्र, पृष्ठ ७९६, मूल्य ३॥)
२९- ,, -सटीक-[मझला साइज] महीन टाइप, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य ३॥)
३०- ,, -मूल, मझला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य २)
३१- ,, -मूल, गुटका, पृष्ठ ६८०, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ॥)
३२- ,, -**बालकाण्ड**-मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ॥=)
३३- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य १=)
३४- ,, -**अयोध्याकाण्ड**-मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य ॥)
३५- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य ॥।-)
३६- ,, -**अरण्यकाण्ड**-मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य ≡)
३७- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य ।)
३८- ,, -**किष्किन्धाकाण्ड**-मूल, पृष्ठ २४, मूल्य =)
३९- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य =)
४०- ,, -**सुन्दरकाण्ड**-मूल, पृष्ठ ३८, मूल्य ≡)
४१- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)
४२- ,, -**लङ्काकाण्ड**-मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य ।)
४३- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य ॥)
४४- ,, -**उत्तरकाण्ड**-मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य ।)
४५- ,, ,, -सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य ॥)
४६-**मानस-रहस्य**-चित्र रंगीन १, पृष्ठ-संख्या ५१२, मूल्य १।), सजिल्द १॥=)
४७-**मानस-शंका-समाधान**-चित्र रंगीन १, पृष्ठ १९४, मूल्य ॥)
४८-**विनय-पत्रिका**-गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनुवादक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ४७२, सुनहरी चित्र १, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द १।=)
४९-**गीतावली**-गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४४४, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द १।=)
५०-**कवितावली**-गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत, सटीक, चित्र १, पृष्ठ २२४, मूल्य ॥-)
५१-**दोहावली**-सानुवाद, अनुवादक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, १ रंगीन चित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य ॥)
५२-**प्रेम-योग**-लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य १॥)
५३-**तत्त्व-चिन्तामणि**-(भाग १)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५२, मूल्य ॥=), सजिल्द १)
५४- ,, (भाग २)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५९२, मूल्य ॥।=), सजिल्द १।)
५५- ,, (भाग ३)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४२४, मूल्य ॥≡), सजिल्द १-)
५६- ,, (भाग ४)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५२८, मूल्य ॥।-), सजिल्द १≡)
५७- ,, (भाग ५)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४९६, मूल्य ॥।-), सजिल्द १≡)
५८- ,, (भाग ६)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४५६, मूल्य १), सजिल्द १।=)
५९- ,, (भाग ७)-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ५३०, मूल्य १=), सजिल्द १॥)
६०- ,, (भाग ४)-(छोटे आकारका गुटका संस्करण) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य ।=), सजिल्द ॥=)
६१-**ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी)**-सं०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ २२४, सचित्र, ॥=) स० ॥।=)
६२-**सूक्ति-सुधाकर**-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ॥=)

* संस्करण समाप्त हो गया है, छपनेपर मिलेगी ।

६३-**स्तोत्ररत्नावली**-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥)
६४-**पातञ्जलयोगदर्शन**-सटीक, याख्याकार-श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १७६, दो चित्र, मूल्य ॥।) सजिल्द १)
६५-**सत्सङ्गके बिखरे मोती**-पृष्ठ २४४, ग्यारह मालाएँ, मूल्य ॥।)
६६-**सुखी जीवन**-लेखिका-श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, मूल्य ॥)
६७-**भगवच्चर्चा भाग १** (तुलसीदल)-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य अजिल्द ॥) सजिल्द ॥।=)
६८- ,, **भाग २** (नैवेद्य)-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥), सजिल्द ॥।=)
६९-**रामायणके कुछ आदर्श पात्र**-पृष्ठ १६८, मूल्य ।=)
७०-**उपनिषदोंके चौदह रत्न**-पृष्ठ ९०, मूल्य ।=)
७१-**लोक-परलोकका सुधार [कामके पत्र]** (प्रथम भाग)—पृष्ठ-संख्या २२०, मूल्य ।=)
७२- ,, [,,] (द्वितीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २४४, मूल्य ।=)
७३- ,, [,,] (तृतीय भाग)—पृष्ठ-संख्या २९२, मूल्य ॥)
७४- ,, [,,] (चतुर्थ भाग)—पृष्ठ-संख्या २८८, मूल्य ॥)
७५- ,, [,,] (पञ्चम भाग)—पृष्ठ-संख्या २८०, मूल्य ॥)
७६-**रामायण-प्रथमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक**-पृष्ठ १५६, मूल्य ।=)
७७-**भक्त नरसिंह मेहता**-सचित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य ।=)
७८-**प्रेम-दर्शन**-नारदरचित भक्तिसूत्रोंकी विस्तृत टीका, टीकाकार-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ १८८, मूल्य ।-)
७९-**भवरोगकी रामबाण दवा**-लेखक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १७२, मूल्य ।-)
८०-**विवेक-चूडामणि**-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य अजिल्द ।-)
८१-**भक्त बालक**-गोविन्द, मोहन आदि बालक भक्तोंकी ५ कथाएँ हैं, पृष्ठ ७२, सचित्र, मूल्य ।-)
८२-**भक्त नारी**-शबरी आदिकी कथाएँ हैं, पृष्ठ ६८, १ रंगीन, ५ सादे चित्र, मूल्य ।-)
८३-**भक्त-पञ्चरत्न**-रघुनाथ, दामोदर आदि पाँच भक्तोंकी कथाओंकी पुस्तक, पृष्ठ ८८, दो चित्र, मूल्य ।-)
८४-**आदर्श भक्त**-शिवि, रन्तिदेव आदिकी ७ कथाएँ, पृष्ठ ९६, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य ।-)
८५-**भक्त-सप्तरत्न**-दामा, रघु आदिकी गाथाएँ, पृष्ठ ८६, चित्र १, मूल्य ।-)
८६-**भक्त-चन्द्रिका**-सखू, विट्ठल आदि ६ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र १, मूल्य ।-)
८७-**भक्त-कुसुम**-जगन्नाथ, हिम्मतदास आदिकी ६ कथाएँ, पृष्ठ ८४, चित्र १, मूल्य ।-)
८८-**प्रेमी भक्त**-बिल्वमंगल, जयदेव आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ।-)
८९-**प्राचीन भक्त**-मार्कण्डेय, कण्डु, उत्तङ्क आदिकी १५ कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र बहुरंगे ४, मूल्य ॥)
९०-**भक्त-सरोज**-गङ्गाधरदास, श्रीधर आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मूल्य ।=)
९१-**भक्त-सुमन**-नामदेव, राँका-बाँका आदिकी १० कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य ।=)
९२-**भक्त-सौरभ**-व्यासदासजी, प्रयागदासजी आदिकी ५ कथाएँ, पृष्ठ ११०, चित्र १, मूल्य ।-)
९३-**भक्त-सुधाकर**-भक्त रामचन्द्र, भक्त लाखाजी आदिकी १२ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य ॥)
९४-**भक्त-महिलारत्न**-रानी रत्नावती, भक्तिमती हरदेवी आदिकी ९ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मूल्य ।≡)
९५-**भक्त-दिवाकर**-भक्त सुव्रत, भक्त वैश्वानर आदिकी ८ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य ।≡)
९६-**भक्त-रत्नाकर**-भक्त माधवदास, भक्त विमलतीर्थ आदिकी १४ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य ।≡)
९७-**भक्तराज हनुमान्**-सचित्र, पृष्ठ ७२, चित्र १ रंगीन, ४ सादे, मूल्य ।-)
९८-**सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र**-पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य ।-)
९९-**प्रेमी भक्त उद्धव**-पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन चित्र १, मूल्य ≡)
१००-**महात्मा विदुर**-पृष्ठ-संख्या ६०, १ सादा चित्र, मूल्य =)॥

१०१–भक्तराज ध्रुव–पृष्ठ-संख्या ४४, १ रंगीन चित्र, मूल्य [illegible])
१०२–परमार्थ-पत्रावली (भाग १)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १२४, सचित्र, मूल्य ।)
१०३– ,, (भाग २)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ८० पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १७२, सचित्र, मूल्य ।)
१०४– ,, (भाग ३)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ७२ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ॥)
१०५– ,, (भाग ४)–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ९१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ २०४, सचित्र, मूल्य ॥)
१०६–कल्याणकुञ्ज (भाग १)–मननीय तरंगोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १३६, मूल्य ।)
१०७– ,, (भाग २)–नयी पुस्तक, सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ १६०, मूल्य ।-)
१०८– ,, (भाग ३)–नयी पुस्तक, सुन्दर तिरंगा चित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ।=)
१०९–महाभारतके कुछ आदर्श पात्र–पृष्ठ १२६, मूल्य ।)
११०–भगवान्‌पर विश्वास–पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।)
१११–प्रार्थना–सचित्र, पृष्ठ ५६, इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह, मूल्य ⇒)
११२–आदर्श नारी सुशीला–सचित्र, पृष्ठ ५६, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, मूल्य ⇒)
११३–आदर्श भ्रातृ-प्रेम–लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ १०४, मूल्य ⇒)
११४–मानव-धर्म–लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ९८, मूल्य ⇒)
११५–गीता-निबन्धावली–गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये बहुत उपयोगी है, पृष्ठ ८०, मूल्य =)॥
११६–साधन-पथ–लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य =)॥
११७–अपरोक्षानुभूति–शंकरस्वामिकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य =)॥
११८–मनन-माला–यह भावुक भक्तोंके बड़े कामकी चीज है, पृष्ठ ५४, सचित्र, मूल्य =)॥
११९–नवधा भक्ति–लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६०, सचित्र, मूल्य =)
१२०–बाल-शिक्षा–लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य =)
१२१–श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति–लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, सचित्र, पृष्ठ ४८, मूल्य =)
१२२–रामायण-शिशु-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक–पृष्ठ ४०, मूल्य =)

१२३–भजन-संग्रह (प्रथम भाग)–पृष्ठ १८०, मूल्य =)
१२४– ,, (द्वितीय भाग)–पृष्ठ १६८, मूल्य =)
१२५– ,, (तृतीय भाग)–पृष्ठ २२८, मूल्य =)
१२६– ,, (चतुर्थ भाग)–पृष्ठ १६०, मूल्य =)
१२७– ,, (पञ्चम भाग)–पृष्ठ १४०, मूल्य =)
१२८–स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥
१२९–नारीधर्म–पृष्ठ ४८, मूल्य -)॥
१३०–गोपी-प्रेम–पृष्ठ ५२, मूल्य -)॥
१३१–मनुस्मृति–द्वितीय अध्याय सार्थ, पृष्ठ ५२, मूल्य -)॥
१३२–ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–पृष्ठ ३६, मू० -)॥
१३३–श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–सटीक, पृष्ठ ९६, मूल्य -)॥
१३४–हनुमानबाहुक–सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ४०, मूल्य -)॥
१३५–श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा–पृष्ठ ४०, -)।
१३६–मनको वश करनेके कुछ उपाय–पृष्ठ २४, मू० -)।
१३७–ईश्वर–पृष्ठ ३२, मूल्य -)।
१३८–मूल-रामायण–पृष्ठ २४, मूल्य -)।
१३९–रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक–मूल्य -)।
१४०–हरेरामभजन १४ माला–मूल्य ।-)
१४१–हरेरामभजन ६४ माला–मूल्य १)
१४२–शारीरकमीमांसादर्शन–मूल्य)।।
१४३–बलिवैश्वदेवविधि–मूल्य)॥

Our English Publications

144–Gopis' Love for Sri Krishna—(*By Hanumanprasad Poddar*)	0-4-0
145–The Divine Name and Its Practice—(*By Hanumanprasad Poddar*)	0-3-0
146–Wavelets of Bliss—(*By Hanumanprasad Poddar*)	0-2-0
147–The Immanence of God—(*By Madan Mohan Malviya*)	0-2-0
148–What is God ?—(*By Jayadayal Goyandka*)	0-2-0
149–The Divine Message—(*By Hanumanprasad Poddar*)	0-0-9
150–What is Dharma ?—(*By Jayadayal Goyandka*)	0-0-9

नयी सूचना

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।

पैकेटोंका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ॥।)

१–सामयिक चेतावनी–पृष्ठ २४, मूल्य -)
२–आनन्दकी लहरें–पृष्ठ २४, मूल्य -)
३–गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र–सार्थ, पृष्ठ ३२ मूल्य -)
४–श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश–पृष्ठ १६, मूल्य -)
५–ब्रह्मचर्य–पृष्ठ ३२, मूल्य -)
६–हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप–पृष्ठ २४, मूल्य -)
७–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–पृष्ठ ३२ -)
८–श्रीभगवन्नाम–पृष्ठ ७२, मूल्य -)
९–श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन–पृष्ठ ६४ -)
१०–भगवत्तत्त्व–पृष्ठ ६४, मूल्य -)
११–सन्ध्योपासनविधि अर्थसहित–पृष्ठ २४, मूल्य -)
१२–हरेरामभजन दो माला–पृष्ठ ३२, मूल्य)॥।
१३–पातञ्जलयोगदर्शन मूल–पृष्ठ २०, मूल्य)।

॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ।)

१–संत-महिमा–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
२–श्रीरामगीता–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
३–विष्णुसहस्रनाम मूल–पृष्ठ ४८, मूल्य)॥।
४–वैराग्य–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥।
५–रामायण सुन्दरकाण्ड–पृष्ठ ६४, मूल्य -)

।-)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ॥)

१–विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद–(सार्थ) पृष्ठ १६, मूल्य)॥
२–सीतारामभजन–पृष्ठ ६४, मूल्य)॥
३–भगवान् क्या हैं ?–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
४–भगवान्‌की दया–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
५–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग पृष्ठ ४८,)॥
६–सेवाके मन्त्र–पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
७–प्रश्नोत्तरी–पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
८–सन्ध्या विधिसहित–पृष्ठ १६, मूल्य)॥
९–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
१०–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
११–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति–पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
१२–स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग–पृष्ठ २०)॥
१३–परलोक और पुनर्जन्म–पृष्ठ ४०, मूल्य)॥
१४–ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन–पृष्ठ ३२)॥
१५–अवतारका सिद्धान्त–पृष्ठ २८, मूल्य)॥
१६–गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची–पृष्ठ ४८)॥

॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ।)

१–धर्म क्या है ?–पृष्ठ १६, मूल्य)।
२–श्रीहरिसंकीर्तन-धुन–पृष्ठ ८, मूल्य)।
३–दिव्य सन्देश–पृष्ठ १६, मूल्य)।
४–नारद-भक्ति-सूत्र–पृष्ठ २४, मूल्य)।
५–महात्मा किसे कहते हैं ?–पृष्ठ २४, मूल्य)।
६–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है–पृष्ठ २४, मूल्य)।
७–प्रेमका सच्चा स्वरूप–पृष्ठ २४, मूल्य)।
८–हमारा कर्तव्य–पृष्ठ २४, मूल्य)।
९–कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ–पृष्ठ ३२, मूल्य)।
१०–शोक-नाशके उपाय–पृष्ठ २४, मूल्य)।
११–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है–पृष्ठ २४, मूल्य)।
१२–चेतावनी–पृष्ठ २४, मूल्य)।
१३–त्यागसे भगवत्प्राप्ति–पृष्ठ २४, मूल्य)।
१४–श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव–पृष्ठ २०, मूल्य)।
१५–लोभमें पाप–पृष्ठ ८, मूल्य आधा पैसा
१६–सप्तश्लोकी गीता–पृष्ठ ८, मूल्य आधा पैसा
१७-१८–गजल गीता–पृष्ठ ८, २ प्रति, मूल्य)।

।)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये

इससे आपको शायद पैसे और समयकी बचत हो सकती है—

गीताप्रेसकी पुस्तकें बहुत-से पुस्तक-विक्रेता भी छपे मूल्यपर ही बेचते हैं और यही उचित भी है; परंतु निम्नलिखित स्थानोंपर तो हमारी पुस्तक-सूचीमें छपे हुए दामोंपर ही बेची जाती हैं। ग्राहकोंको अधिक दाम नहीं देने पड़ते। यदि किसी ग्राहकसे अधिक दाम माँगे जायँ तो कृपया हमें सूचित करें।

अमरावती—कन्हैयालालश्रीराम, मारवाड़ीस्टोर जवाहर रोड।
अलीगढ़—श्रीअच्युत स्टोर, महावीरगंज।
,, —श्रीशालिग्राम एण्ड सन्स, मदारगेट, चौकी पुलिसके सामने।
,, —श्रीहरीरामजी गुप्ता बुकसेलर, अचल रोड।
अलवर—सरस्वती पुस्तकालय मुंशीबाजार।
अजमेर—श्रीलक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुरानी मण्डी।
अहमदाबाद नं० ४—पण्डित राममनोहरजी मिश्र, शेठ आर. एल. बैंकरका बंगला, शाहीबाग।
,, **नं० २**—श्रीएस. एस. बागडिया एण्ड सन्स, हरीदास अचरतलाल मार्केट, कपासिया बाजार।
अमृतसर—श्रीमिलखीराम रामरेखा धूपवाले, दुर्ग्याणा तीर्थ।
,, —श्रीलक्ष्मीनारायण सुगन्ध-भण्डार, दुर्ग्याणामन्दिर।
,, —श्रीलक्ष्मीनारायण-पुस्तकालय, दुर्ग्यानातीर्थ।
अम्बाला शहर—पूर्वी पाञ्चाल ज्योतिषकार्यालय, लभूवाला तालाब।
,, —(छावनी) चानणा विश्वबन्धु स्टोर्स, ३४२२, कच्चाबाजार।
अयोध्या—श्रीशिवदुलारेलालजी बुकसेलर।
,, —श्रीनारायण कार्यालय, शीशमहल।
,, —जनरल बुकडिपो।
अबोहर (फिरोजपुर)—साहित्यसदन।
अनूपशहर—गौरीशंकर एण्ड सन्स, बुकसेलर।
अलमोड़ा—कुमायू पुस्तक-भण्डार, जवाहर चौक।
,, —गोपालदत्त जोशी, लाला बाजार।
आकोला—मंत्री, धर्मसंघ-कार्यालय, किराना बाजार।
आगरा—श्रीकृष्णपुस्तकालय, दौलत मार्केट।
,, —श्रीगयाप्रसाद एण्ड सन्स, हास्पिटल रोड।
,, —लक्ष्मीबुकडिपो कसेरट बाजार।
आरा—चौधरी एण्ड को० बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनर्स, महादेव रोड।
इलाहाबाद—श्रीबनारस बुकडिपो, ६३, जानसनगंज।
,, —श्रीदुर्गा पुस्तक-भण्डार १०२, जानसनगंज।
इटावा—श्रीहीरालाल अग्रवाल बुकसेलर।
इन्दौर—साहित्य-साधना-कुटीर, संयोगितागंज।
,, —दी नेशनल बुकडिपो, २१ राजावाड़ा चौक।
,, —तुलसी-साहित्य-सदन, बुकसेलर, ३ नासिया रोड।
,, —रामप्रसाद ओंकारलाल चौरसिया नं० ३३ महात्मा गांधीरोड।
उदयपुर—पं० धनलालजी शर्मा भारतीय पुस्तकभण्डार।
उज्जैन—अनन्त उपयोगी वस्तुभण्डार, सतीगेट।
,, —श्रीकृष्ण भक्ति भण्डार, जनरल मर्चेन्ट, चौक।
,, —आनन्दीलाल चतुरविहारीलाल, चौक।
ऋषिकेश (देहरादून)—श्रीगीताभवन, स्वर्गाश्रम।
कटनी (सी० पी०)—बद्री स्टेशनरी मार्ट।
कमालगंज (फरूखाबाद)—भीमशंकर औदिच्य-विद्यार्थी औदिच्य पुस्तकभण्डार।
कलकत्ता—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, ३०, बाँसतल्ला गली।
करनाल—अमर बुकडिपो, प्रो० रूपचन्द मंगतराम जैन।
करवी—अग्रवाल स्टोर्स, पुरानाबाजार डाकखानाके पास।
कन्नौज—गजेन्द्र बन्धु बुकसेलर्स, बड़ा बाजार।
कानपुर—श्रीप्रकाश घी स्टोर, काहूकोठी।
,, —सरस्वती सेवासदन, १०८।८८ पी० रोड, सीसामऊ।

कानपुर—गीता-पुस्तक-भण्डार जनरल पोस्ट आफिसके सामने ।

,, —भारती पुस्तक-भण्डार, ३३ । १८ चौकबाजार ।

कोंच (जालौन)—श्रीअयोध्याप्रसाद दयाराम ।

,, —श्रीरामचन्द्र जनरल स्टोर्स, मानिक चौक बाजार ।

कोटा—मोहन न्यूज एजेंसी रामपुराबाजार ।

खण्डवा—घीसीलाल जनपतसा, रामगंज ।

खरगोन—भाई पंढरीनाथ जगन्नाथ सराफ ।

खामगाँव—श्रीरामचन्द्रानन्द ब्रह्मचारी वीर हनुमान मंदिर ।

खुराई (सागर)—कुन्दनलाल लखपती ।

खुसरूपुर (पटना)—धार्मिक-पुस्तकालय ।

गया—भारतीय पुस्तक-भण्डार चौक ।

,, —माहुरी पुस्तक-भण्डार, कृष्णप्रकाश रोड ।

ग्वालियर—लायल बुकडिपो, सरस्वतीसदन, लश्कर ।

,, —भारतीय पुस्तकालय ।

गाजियाबाद—श्रीरघुनाथ साहित्यकेन्द्र,१००नया दरवाजा

गुजरी (धार)—रामगोपाल हजारीलाल बांसल ।

गोला गोकरननाथ (खीरी)—नारायनप्रसाद, सीताराम पुस्तकालय, न्यूज एजेन्ट, बड़ा बाजार ।

,, —बद्रीप्रसाद मुरलीधर गुप्ता ।

चन्दौसी—भोलानाथ गुप्त बड़ा बाजार ।

चिरगाँव (झाँसी)—श्रीजानकीप्रसाद जुगलकिशोर ।

चित्रकूट—रामकिशन अग्रवाल बुकसेलर गंगातीर बाजार ।

छपरा—पुस्तकाश्रम सलेमपुर ।

जनकपुर रोड—लोकबन्धपुस्तकालय ।

जबलपुर—ज्ञान ग्रन्थागार, पता—भारत पेपर मार्ट, जवाहरगंज ।

,, —सुभाष-साहित्य-मन्दिर १९२, १९५ जवाहरगंज ।

जयपुर—बद्रीनारायण गुप्ता फोटोग्राफर, त्रिपोलियाबाजार ।

जलपाई गुड़ी—महावीरप्रसादजी अग्रवाल ।

जालना (दक्षिण)—हिन्दी-साहित्य-भण्डार, नेहरू रोड ।

जालन्धर—निहालचन्द दियालचन्द बुकसेलर, भैरोबाजार ।

जोधपुर—किताब घर, आउट-साइड सोजतीगेट ।

झाँसी—टण्डन बुकडिपो, सीपरीबाजार ।

दतिया—किशोरीशरण दूबे, मुड़िआनका कुआँ ।

दरभंगा—मोरूलाल रामप्रसाद बड़ा बाजार ।

,, —सस्ता-पुस्तक-भण्डार, टावर चौक ।

दिल्ली—श्रीरामनरसिंह हरलालका, अस्पतालके ऊपर, संतनगर करोलबाग ।

,, —श्रीकुन्दनलाल कौशिक बुकडिपो, दूकान नं० ४४५५, नई सड़क ।

,, —दी जनरल बुक सप्लाई कं० ओरिजिनल रोड करोलबाग ।

,, —देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार ।

,, —नवयुग ट्रेडर्स ओरिजिनल रोड,देवनगर,करोलबाग ।

,, —नयी दुकान, नयी सड़क ।

,, —पंजाबी पुस्तक-भण्डार, दरीबाकलाँ ।

,, —नारायणदास जयदयालमल दरीबाकलाँ ।

दिल्ली कैन्ट—सुरजनमल लायकराम बुकसेलर सदरबाजार ।

द्रुग—अग्रवाल बुकडिपो ।

,, —श्रवणलाल बुकसेलर फ्रेममेकर शनिचरी बाजार ।

दुमका—कृष्ण बुकस्टोर ।

देहरादून (यू० पी०)—बनवारीलाल आत्मारामजी, कांवलीरोड चौराहा ।

,, —जुगलकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनर्स ।

धामपुर (बिजनोर)—रामकुमार महावीरप्रसाद बुकसेलर्स एन्ड स्टेशनर्स ।

धौलपुर—भवानीशंकर गर्ग एण्ड सन्स निहालगंज ।

,, —किशनलालजी बुकसेलर, निहालगंज ।

नवद्वीप—नवद्वीप-भजनाश्रम ।

नरसिंहपुर—मोतीलाल नेमीचन्द ।

नडियाद (गुजरात)—अम्बालाल डाह्याभाई पटेल, लखावाड़ ।

नवादा (गया)—आर्य-पुस्तक-भण्डार ।

नागपुर—श्रीबिहारीलाल झुंझनूवाला, श्यामभवन, सुभाष रोड ।

,, —राजाराम सुगनचन्द मोहता हंसापूरी ।

नौगछिया—भीखराम बैजनाथ ।

पटना—श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री, बिड़ला-मन्दिर, सब्जीबाग ।

पीलीभीत—रामभरोसेलाल छोटेलाल बुकसेलर, चौकबाजार ।

पूना—नेलेंकर बुकसेलर, बुधवारचौक ।

प्रतापगढ़—किसान-पुस्तकालय, बुकसेलर ।

,, —अग्रवाल बुकडिपो ।

फरीदपुर (बरेली)—रामानन्द ओमप्रकाश ।

फतेहपुर—हरदयाल गनेशप्रसाद बुकसेलर, कचहरी रोड ।

,, —प्रतापनारायण खन्ना चौक ।

,, —शिवभूषण गुप्ता हरीहरगंज ।

फतेहगढ़—कृष्ण स्टेशनरी स्टोर बुकसेलर ।

फर्रुखाबाद—माहेश्वरी बुकडिपो ।

,, —वैद्य बुकडिपो ।

फिरोजाबाद (आगरा)—देवदत्त ब्रदर्स ।

,, —भारत खादी भण्डार ।

फिरोजपुर छावनी—विद्या पुस्तक भण्डार बाजार नं० ४ ।

बनारस—श्रीगीताप्रेस कागज एजेन्सी नीचीबाग ।

बदायूँ—बंसल बन्धु आलमगिरगंज ।

,, —सस्ता भण्डार बुकसेलर ।

,, —प्यारेलाल तुर्शीलाल ।

बलिया—छात्र-हितकारी भण्डार, स्टेशन रोड ।

बड़ौदा—शाहबुकडिपो, सूरसागर सामने ।

,, —पुस्तकालय सहायक सहकारी मण्डल लि० बुकसेलर रावपुरा पो० बक्स नं० १० ।

बरेली—रामचरनलाल गोयल एण्ड सन्स बुकसेलर, हर्नी चौक ।

बक्सर—रामनाथ मिश्र बुकसेलर, रामरेखाघाट ।

बाराबंकी—जयजयराम शिवनरायन बुकसेलर ।

,, —गोकुल बुकडिपो ।

बिजनोर—रामचरनदास गुप्ता, बुकसेलर, स्कूलरोड ।

,, —पर्वत बुकस्टाल ।

बिलासपुर—रामानुज तिवारी पुस्तकालय, गोलबाजार ।

,, —महावीरप्रसाद मिश्रा, मिश्रापुस्तकालय, महावीरगंज ।

बीकानेर—श्रीईश्वरदास डागा, बी० के० विद्यालयके निकट ।

बुलन्दशहर—भगवत बुकडिपो डिप्टीगंज ।

,, —हरिगोपाल धनपाल बुकसेलर, जवाहर-चौक ।

बूँदी—रामस्वरूप राधावल्लभ, श्रीलालबिहारीका कटरा धानमण्डी ।

वृन्दावन—श्रीभगवान् भजनाश्रम, अटखम्भा ।

बेतिया—सुन्दरमल हरीराम ।

बंगलौर—इ. म. इ. सेन्टर मन्दिर, हास्पिटल टाउन । ईस्ट ।

बंबई—श्रीसत्सङ्ग-भवन, दादीसेठ अग्यारी लेन, सिंहानिया वाड़ी, गगेशबाग । नं० १७९ । १८१ ।

ब्यावर—रामस्वरूप शर्मा, कृष्णा बुक हाउस ।

भरतपुर—स्टूडेन्ट्स ब्रादर्स एण्ड कं० बुकसेलर्स एण्ड स्टेशनर्स ।

,, —बंसल बुकडिपो ।

भागलपुर—शिवचन्द महाराज अर्जुनलाल, सूजागंज ।

भिवानी—मंगतराय अलाहदूत । ठि० गणेशदास युगलकिशोर हालूबाजार ।

,, —जगन्नाथ जानकीदास सराफ हालूबाजार ।

मथुरा—श्रीगीता-आश्रमका पुस्तकभण्डार, गंडबाट ।

मधुबनी—बाबू रघुवरसिंह बुकसेलर ।

मान्धाता ओंकारजी—वृन्दावन – नारायणप्रसाद पाराशर।
मिर्जापुर—कैलाशनाथ महरोत्रा, बुकसेलर, चौराहा बेलसलीगंज।
मुरादाबाद—लालमनदास ॐप्रकाश बर्तनवाले, मण्डी चौक।
,, —अग्रवाल बुकडिपो, अमरोहागेट।
मुरेना—गुप्ता स्टोर्स।
मुजफ्फरपुर—सूरज महाराज बुकसेलर, कम्पनीबाग।
मुजफ्फरनगर—खुबरदयाल एण्ड को० गोपालरोड, न्यूमंडी।
मुंगेर—श्रीमन्त्री हिंदूसभा कार्यालय।
मेरठ—श्रीशंकरदास दुर्गाप्रसाद आढ़ती, सदरबाजार।
,, —श्रीराये हाउस, निकट-तहसील।
,, —भीखाराम सनेहीराम, सदरबाजार।
मैनपुरी—श्रीरमेशचन्द्र ब्रजेशचन्द्र, कटरा।
मोतिहारी—के० पी० गुप्ता एण्ड सन्स।
रगौल (बाँदा)—मोतीलालजी गुप्ता, जनरल मर्चेन्ट्स, मौदहा।
रसड़ा—भारत-विद्या-पुस्तकभण्डार।
रायपुर—गज्जूलाल चुनकाईलाल बुकडिपो, गोलबाजार।
,, —राष्ट्रीय विद्यालय बुकडिपो, गोलबाजार।
रायगढ़—महीपतलाल गंगाप्रसाद बुकडिपो, सदरबाजार।
राँची—ज्वालादत्त गोविन्दराम, ऊपरबाजार।
रोहतक मण्डी—श्रीबनवारीलाल बुकसेलर भजनाश्रम।
लखनऊ—श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर, श्रीरामरोड।
लखीमपुर (खीरी)—वल्लभदास कन्हैयालाल, जनरल मर्चेन्ट्स।
लहरियासराय—वैद्यनाथ पुस्तक-मन्दिर, कचहरी रोड।
लश्कर—प्रधान मंत्री, श्रीसनातनधर्म-मण्डल, धर्ममन्दिर रोड।
लुधियाना—मोहन-पुस्तकालय, चौड़ाबाजार।
शाहजहाँपुर—बद्रीप्रसाद मुरलीधर, गुप्ता बुकडिपो बहादुरगंज।
,, —अग्रवाल आदर्श बुकसेलर एण्ड स्टेशनर्स चौक।
शिकोहाबाद—शर्मा बुकडिपो।
शिमला—सुन्दरदास एण्ड सन्स, लोअरबाजार।
शेगाँव—श्रीहनुमानदास हरलालका।
शोलापुर—रामरख मोतीराम चाण्डक, चाँदीगली।
श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर)—बिरधीचन्द्र बृजमोहन मून्दड़ा।
सहारनपुर—श्रीचन्द्रभ्राता-पुस्तक-भण्डार, शिवाजी बाजार।
सागर—गजाधरप्रसाद बुकसेलर, कटराबाजार।
सिवान—श्रीगीताप्रेस कागज एजेंसी।
सिकन्दराबाद (दक्षिण)—वासुदेव पाण्डे, मूलचन्द एण्ड सन्स, केमिस्ट एण्ड ड्रगिस्ट, स्टेशन रोड।
सीतापुर—श्रीगीतामन्दिर गीतानगर।
सीकर—हिन्दी-विद्याभवन बुकडिपो।
सुनाम—मैनेजर, श्रीहरिसंकीर्तन-मण्डल।
सुलतानगंज—मोहनलाल बुकसेलर, जनताभण्डार।
सूरत—श्रीनगीनदासजी चुन्नीलाल जरीवाला बालाजी रोड।
हरदोई—श्रीमन्नालाल गुप्ता बुकसेलर, कचहरी।
,, —जयहिंद स्कूल, बुकडिपो सदरबाजार।
हलद्वानी—संतोष बुकडिपो, सदरबाजार।
हाथरस—राष्ट्रभाषा पुस्तकभण्डार।
,, —दीपक ज्योति-कार्यालय।
,, —प्यारेलालजी बुकसेलर, ऐज्यूकेशनल बुकडिपो, सासनी गेट।
होशियारपुर—वैदिक साहित्य सदन बाजार वकीलान।
होशंगाबाद—ब्रह्मज्ञान पुस्तकालय।

रजि० सं० ए० १७५

प्रेमी ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, उनको रजिस्टर्ड-पोस्टसे जनवरीका 'भक्त-चरिताङ्क' तथा मईतकके चार साधारण अङ्क प्रायः भेजे जा चुके हैं। जिनको अबतक न मिले हों, वे तुरंत पत्र लिखें। पत्रमें रुपये भेजनेवालेका नाम-पता वही लिखें, जो मनीआर्डरमें लिखा था। रुपये भेजनेकी तारीख भी अवश्य लिखें। रुपयोंकी रसीद अथवा उसकी नकल भेज सकें तो शीघ्र पता लग जायगा। रसीद न मिली हो तो डाकखानेमें जरूर शिकायत कर दें।

(२) जिनके रुपये नहीं आये थे, उनको 'भक्तचरिताङ्क' फरवरीके अङ्कसहित वी० पी० द्वारा भेजे गये थे और उनमें जिनके वी० पी० के रुपये हमें मिल गये, उनको मईतकके तीनों अङ्क भेजे जा चुके हैं। अबतक न मिले हों तो अपने डाकखानेमें पता लगावें तथा हमें भी कृपया तुरंत सूचना दें।

(३) पुराने ग्राहकोंको भेजी हुई जो वी० पी० वापस लौटी हैं, उनमेंसे कुछ तो ऐसी हैं, जिनकी सूचनातक ग्राहकोंको डाकखानेसे नहीं मिली थी कि उनके नाम कोई वी० पी० आयी है। कुछ ऐसी हैं कि ग्राहक महोदय संयोगवश डाकखाने एक दो दिन देरसे पहुँचे और तबतक वी० पी० वापस लौट गयी। ऐसे ग्राहक प्रायः कल्याण पढ़ना चाहते हैं, इसलिये उनसे निवेदन है कि वे ७॥) रुपये निःसङ्कोच मनीआर्डरसे भेजकर 'भक्तचरिताङ्क' से ग्राहक बन जायँ या हमें वी० पी० से भेजनेका आदेश दें।

(४) कुछ सज्जन थोड़े-थोड़े दिनोंके लिये पता बदलवाते हैं, इससे बार-बारकी काट-छाँटसे ग्राहक-रजिस्टरका पृष्ठ भद्दा हो जाता है; पहलेसे छपे हुए पतेकी स्लिपको अङ्क भेजते समय सुधारना पड़ता है, जरा भी भूल रह जाती है तो ग्राहकको अङ्क नहीं मिलता। अङ्क गुम हो जानेसे ग्राहकको असंतोष होता है तथा शिकायत मिलनेपर हमें दुबारा अङ्क भेजना पड़ता है। इसलिये स्थायी रूपसे या बहुत लंबे समयके लिये स्थान परिवर्तन करनेपर ही पता बदलवाना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना देते समय ग्राहक-नंबर, पुराना और नया पता पूर्णरूपसे साफ अक्षरोंमें कम-से-कम १५ दिन पूर्व अवश्य लिखना चाहिये। थोड़े समयके लिये पता बदलवाना हो तो अपने डाकखानेको लिख देना चाहिये। या पता न बदलवाकर अपने स्थानीय सुहृद्-बन्धुसे कहकर व्यवस्था करा लेनी चाहिये।

(५) ग्राहक-नंबर न लिखनेसे उसे खोज निकालनेमें शक्ति तथा समयका बहुत व्यय करना पड़ता है। मनीआर्डरपर ग्राहक-नंबर न रहनेसे कभी-कभी नये नंबरपर नये ग्राहकके रूपमें रुपये जमा हो जाते हैं और पुराने नंबरसे वी० पी० चली जाती है। कभी-कभी एक ही नामके कई ग्राहक होनेसे भी गलत नामपर रुपये जमा हो जाते हैं। और भी बहुत-सी अड़चनें आती हैं, इसलिये रुपये भेजते तथा पत्रव्यवहार करते समय कृपापूर्वक ग्राहक-नंबर अवश्य-अवश्य लिखने चाहिये।

(६) कुछ पत्र ऐसे आते हैं, जिनमें पता बिल्कुल नहीं रहता। किसीमें स्थानका नाम होता है पर अपना नाम नहीं होता। इसमें दो कारण हैं—कुछ ग्राहक तो ऐसा समझते हैं कि हम तो कल्याणके सुपरिचित हैं ही, पता क्या लिखें; कुछ लिखना भूल जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उन पत्रोंका उत्तर हम दे नहीं पाते, उधर ग्राहकोंका असंतोष बढ़ता जाता है। नमूनेके तौरपर यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—(१) ता० १०।४।५२ का एक पत्र है जिसमें 'हाल मुकाम बड़ोदा' लिखा है—नाम-पता कुछ नहीं है, (२) 'सौ० यमुनाबाई थत्ते' अपने नाममें भूल सुधारनेको लिखती हैं, पर पता नहीं है, (३) श्रीबद्रीनाथजी ७≡) चंदा भेज चुके हैं, लिखते हैं 'कल्याण' नहीं मिला, परंतु पता नहीं है, (४) '१७ वी श्रीमोहन लेन, कालीघाट कलकत्ता' यह पता लिखा है, पर नाम नहीं है। इसी प्रकारके बहुतसे पत्र आते हैं, उनमेंसे खोज करनेपर जिनका पता लग जाता है, उनकी शिकायत तो दूर कर दी जाती है, शेष पत्र पड़े रह जाते हैं। अतएव प्रार्थना है कि पत्र लिखते समय सावधानीसे अपना नाम तथा पूरा पता अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)